परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

कायोत्सर्ग

लेखक
कन्हैयालाल लोढ़ा

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर (राजस्थान)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

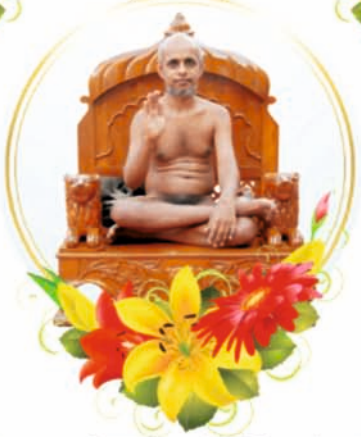

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

कायोत्सर्ग

सर्व दोषों व दुःखों से मुक्ति की साधना

कन्हैयालाल लोढ़ा

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर
शंकर फाउण्डेशन, मुम्बई

कायोत्सर्ग

(सर्वदोषों व दुःखों से मुक्ति की साधना)

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर
शंकर फाउण्डेशन, मुम्बई

प्राकृत भारती पुष्प-214

कायोत्सर्ग

(सर्वदोषों व दुःखों से मुक्ति की साधना)

कन्हैयालाल लोढ़ा

प्रकाशक : देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी
13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर
जयपुर 302017
दूरभाष : 0141-2524827

शिखरचन्द सुराणा
अध्यक्ष
सम्यग्ज्ञान प्रचार मण्डल
बापू बाजार
जयपुर 302003
दूरभाष : 0141-2575997

एच.एस. रांका
शंकर फाउण्डेशन
मलाड को-ऑपरेटिव हाउसिंग सोसायटी लिमिटेड
शॉप नं. 5, बिल्डिंग नं. 7
पोद्दार पार्क, पोद्दार रोड, मलाड (ईस्ट)
मुम्बई 400097

ISBN-13-978-81-89698-21-8

प्रथम संस्करण : 2007 ई.

मूल्य : पैंसठ रुपये मात्र

© कन्हैयालाल लोढ़ा
82/141, मानसरोवर, जयपुर
दूरभाष : 0141-2780957 मोबाइल : 9413764911

पृष्ठ संयोजन : आयुष ग्राफिक्स
बापू नगर, जयपुर 302015
मोबाइल : 9414076708

मुद्रक
सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

KAYOTSARG by Kanhaiyalal Loddha Rs. 65.00

अनुक्रमणिका

विवरण	पृष्ठ संख्या
प्रकाशकीय	7
प्राक्कथन	9
भूमिका	17
कायोत्सर्ग व व्युत्सर्ग	23
ध्यान और कायोत्सर्ग में एकता व भिन्नता	31
कायोत्सर्ग : ध्यान की पूर्णता	34
कायोत्सर्ग और अमनस्क साधना	43
कायोत्सर्ग : एक अनुचिन्तन	56
कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग : देहातीत होना	60
कायोत्सर्ग से लाभ	65
कायोत्सर्ग : समभाव की साधना	67
कायोत्सर्ग से कर्म-निर्जरा	70
कायोत्सर्ग : कर्म-क्षय की साधना	75
कायोत्सर्ग : दु:ख-विमुक्ति का उपाय	84
तप में कायोत्सर्ग का महत्त्व	88
कायोत्सर्ग का फल	96
कायोत्सर्ग से मुक्ति की प्राप्ति	100
कायोत्सर्ग और चित्त-शुद्धि	104
कायोत्सर्ग में व्यर्थ चिन्तन और उसका निवारण	107
कायोत्सर्ग और आसन-प्राणायाम	110
कायोत्सर्ग और शिथिलीकरण	113
कायोत्सर्ग-सूत्र	118
उपसंहार	125

प्रकाशकीय

काउसग्ग (कायोत्सर्ग) जैन दर्शन में साधना की सर्वोच्च अवस्था है, किन्तु यदा-कदा दार्शनिक चर्चाओं में इसका अर्थ शरीर के शिथिलीकरण से जोड़ दिया गया है। वस्तुतः 'कायोत्सर्ग' देहातीत होने की साधना है। इस पुस्तक में कायोत्सर्ग को सर्वदोषों व दुःखों से मुक्त होने की सरलतम साधना के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

श्री कन्हैयालाल लोढ़ा जैन आचार व जैन आगम के अध्येता होने के साथ-साथ साधक भी हैं। उन्होंने अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर कायोत्सर्ग के इस महत्त्वपूर्ण अंग पर प्रकाश डाला है। हम उनके आभारी हैं।

श्री टीकमचन्द हीरावत ने सम्पादन में विशेष सहयोग दिया है। उनके भी हम आभारी हैं।

हमें हर्ष है कि यह पुस्तक प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर (पुष्प-214), शंकर फाउण्डेशन, मुम्बई व सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर के संयुक्त प्रकाशन के रूप में प्रस्तुत है। हमें आशा है कि पुस्तक सामान्य पाठकों, विद्वानों व साधकों के लिए उपयोगी होगी।

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

शिखरचन्द सुराणा
अध्यक्ष
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

हरिसिंह रांका
अध्यक्ष
शंकर फाउण्डेशन, मुम्बई

प्राक्कथन

उत्तराध्ययन सूत्र के छब्बीसवें अध्ययन सामाचारी की गाथा चवालीस से सैंतालीस में साधु के लिए रात्रि की दूसरी प्रहर में ध्यान करना एवं चौथे प्रहर के चौथे भाग में कायोत्सर्ग करना कहा है। इससे यह प्रमाणित होता है कि ध्यान और कायोत्सर्ग अलग-अलग हैं, एक नहीं है, परन्तु वर्तमान में प्राय: ध्यान को ही कायोत्सर्ग मान लिया गया है। जबकि उत्तराध्ययन सूत्र, तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों में ध्यान और कायोत्सर्ग, इन दोनों को स्पष्टत: अलग-अलग तप कहा है। इन दोनों की अपनी-अपनी विशेषता एवं महत्त्व हैं। यहाँ इसे प्रकट करने के लिए पहले दोनों तपों का संक्षेप में वर्णन करते हैं।

तप दो प्रकार का है : बाह्य तप और आभ्यंतर तप। बाह्य तप के छ: भेद हैं :

(1) **अनशन**–इन्द्रियों को अपने-अपने आहार से अर्थात् उनके विषय-भोगों को ग्रहण करने से रोकना; आहार का त्याग करना।

(2) **उणोदरी**–जो आहार (भोग) करना पड़े, उसे जितना बन सके उतना कम करना।

(3) **वृत्तिपरिसंख्यान**–भोग वृत्तियों का संयम करना, नियंत्रण करना।

(4) **रसपरित्याग**–जो संयमित व सीमित विषय सेवन किए जायें उनमें भी रस न लेना।

(5) **कायक्लेश**–शरीर के लिए प्रतिकूल स्थितियों को व आए हुए कष्टों को समभाव से सहन करना।

(6) **प्रतिसंलीनता**–बाह्य पदार्थ व परिस्थितियों में लीनता को छोड़कर स्व में लीन होना। आत्मनिरीक्षण (प्रतिलेखन) करना।

आभ्यंतर तप के भी छ: भेद हैं।

(7) **प्रायश्चित्त**–आत्मनिरीक्षण (कषाय-प्रतिलेखना) करना व जिन दोषों का ज्ञान हो, उन्हें पश्चात्तापपूर्वक दूर करना।

(8) **विनय**–अहंकार को दूर करना, देह के तादात्म्य को तोड़ना। देह आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करना, असंग होना। दोषों का, दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करना।

(9) **वैय्यावृत्य**–साधना में आए हुए विघ्नों का निवारण करना। सेवा करना।

(10) **स्वाध्याय**–स्व का अध्ययन करना अर्थात् अपने अंतस् में उत्पन्न हुए राग, द्वेष आदि अपायों (दोषों) को देखना एवं उन दोषों के विपाक-स्वरूप उत्पन्न हुई आकुलता व दुःख को समत्वपूर्वक देखना तथा दूर करना।

(11) **ध्यान**–चित्त को एकाग्र करना, स्व-स्थ होना अर्थात् स्व में स्थित होना।

(12) **व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)**–काया का उत्सर्ग करना, अर्थात् काया से अपने को पृथक् अनुभव करना, देहातीत होना।

तप के उपर्युक्त 12 भेदों में से प्रथम छः बाह्य तप के भेद आभ्यंतर तप के पोषक हैं, सहयोगी अंग हैं। आभ्यंतर तप के छः भेदों में अन्तिम भेद है कायोत्सर्ग। यही तप का चरमोत्कर्ष भी है। तप मुक्ति का साधन है। मुक्ति है–दोषों व दुःखों से छुटकारा पाना। 'दुःख' दोषों के परिणाम हैं। समस्त दोष उत्पन्न होते हैं देह के साथ तादात्म्य भाव से, देहाभिमान से। अतः दुःखमुक्ति के लिये देह से तादात्म्य तोड़ना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में देहातीत होना आवश्यक है। देह में रहते हुए देहातीत होना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के लिये ध्यान आवश्यक है। ध्यान के बिना कायोत्सर्ग नहीं हो सकता। अब तक जितने साधक मुक्त हुए हैं, उन सबने ध्यान व कायोत्सर्ग साधना अवश्य की है। ध्यान मुक्ति का द्वार है। ध्यान के बिना मुक्ति में प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है।

जैन दर्शन में चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा है। चित्त की एकाग्रता विषय-भोगों में एवं हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्प्रवृत्तियों में भी होती है, अतः जैन दर्शन में इन्हें भी ध्यान कहा है, परन्तु यह ध्यान दुर्ध्यान है, अशुभ है। इसलिये इन्हें अशुभ ध्यान कहा है। अशुभ ध्यान दो प्रकार का कहा है–1. विषय-भोगों से सम्बन्धित चित्त की एकाग्रता को आर्त ध्यान और 2. हिंसा आदि दुष्प्रवृत्तियों में चित्त की एकाग्रता को रौद्र ध्यान कहा है। आर्त-रौद्र, ये दोनों ध्यान समस्त दोषों की उत्पत्ति करने वाले, दुःखों को बढ़ाने वाले एवं संसार में भ्रमण कराने वाले हैं। ये साधना में बाधक हैं, अतः इन्हें साधक के लिए सर्वथा त्याज्य कहा है। साधना में इनका कोई स्थान नहीं है। इनसे बचने

के लिए सजग रहने व त्यागने की दृष्टि से जैन दर्शन में इनका वर्णन किया है। इन्हीं के त्याग को पतंजलि योग में यम-नियम और विपश्यना में शील कहा है।

अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए चित्त की एकाग्रता को जैन दर्शन में शुभ ध्यान कहा है। जीवन का वास्तविक लक्ष्य है ध्रुवत्व-अविनाशित्व, अमरत्व को प्राप्त करना, यही जीव का स्वभाव है। स्वभाव को ही धर्म कहा गया है। स्वभाव के चिन्तन करने को और विभाव का निवारण करने को धर्म-ध्यान कहा है। स्वभाव में स्थित रहने के पुरुषार्थ को शुक्ल ध्यान कहा है। धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान, दोनों ध्यान शुभ ध्यान हैं। इस पुस्तक में आर्त ध्यान-रौद्र ध्यान से बचने एवं धर्म-ध्यान-शुक्ल ध्यान करने का विवेचन किया है।

जब साधक शुभ ध्यान से स्वभाव में, निज स्वरूप में स्थित हो जाता है तब मन-वचन-काया से प्रवृत्तिपरक कुछ भी प्रयत्न करना शेष नहीं रहता है। स्वभाव में स्थित होने पर साधक के काया (देह) व काया से सम्बन्धित संसार, कषाय व कर्म का व्युत्सर्ग हो जाता है अर्थात् इनसे परे हो जाता है, इनसे ऊपर उठ जाता है, इनसे असंग हो जाता है। इसे ही कायोत्सर्ग कहा है। ध्यान तक चिन्तन रूप प्रवृत्तिपरक श्रमसाध्य प्रयत्न रहता है। जबकि 'कायोत्सर्ग' प्रवृत्तिपरक पुरुषार्थ से परे की अवस्था है। ध्यान विरक्तिप्रधान साधना है और कायोत्सर्ग वीतरागता का अभिव्यक्तक है। इस दृष्टि से ध्यान और कायोत्सर्ग, इन दोनों तपों का अलग-अलग स्वरूप है। जैन धर्म की श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि सभी सम्प्रदायों में तप के बारह भेद बताये हैं। उनमें ध्यान ग्यारहवाँ और कायोत्सर्ग बारहवाँ भेद है। अतः ध्यान और कायोत्सर्ग को एक मान लेना कायोत्सर्ग के महत्त्व को भुला देना है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में कायोत्सर्ग के स्वरूप व महिमा पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

मन, वचन और काया—ये तीनों करण पौद्गलिक हैं, जड़ हैं, चेतन आत्मा से भिन्न हैं; इनके सदुपयोग का दायित्व है, परन्तु इनका आश्रय रहते पराधीनता का अन्त होकर निज स्वरूप में स्थित होना अर्थात् कायोत्सर्ग होना सम्भव नहीं है अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव की जो अनश्वर, अविनाशी, ध्रुव, निज चेतन स्वरूप है, उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

साधक का लक्ष्य शरीर से सदा के लिए मुक्त होना एवं संसार-सागर से परे होना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति शरीर और संसार के पदार्थों के आश्रय से होगी—यह मानना मूल भूल है। शरीर, वचन और मन पौद्गलिक करण हैं, साधन हैं। करण व साधन अपने आप में भले-बुरे , हितकर-अहितकर नहीं होते। इनसे होने वाली भलाई-बुराई इन करणों के उपयोग के कर्ता के भावों पर निर्भर है।

कर्ता इन करणों का सदुपयोग कर भला कर सकता है और दुरुपयोग कर बुरा कर सकता है। ध्यान में शरीर, संसार के ममत्व और कषाय का आंशिक त्याग होता है। इनके ममत्व व सम्बन्ध का सर्वांश में त्यागकर शरीर और संसार से अतीत होना कायोत्सर्ग है। यदि इन करणों का सत् चर्चा, सत् चिन्तन, सदाचरण के रूप में सदुपयोग किया जाये तो ये राग, द्वेष आदि दोषों को गलाने में, क्षीण व शिथिल करने में सहायक हो सकते हैं। इस रूप में वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय और ध्यान में इनका उपयोग साधना में बाधक नहीं है, परन्तु इनमें मन, वचन और काया का किसी-न-किसी रूप में आश्रय रहता है। देह का आश्रय रहते देहातीत अनुभूति 'कायोत्सर्ग' सम्भव नहीं है। इस प्रकार स्वाध्याय, ध्यान आदि कायोत्सर्ग के सहायक अंग हैं, परन्तु इनके रहते कायोत्सर्ग नहीं हो सकता। सहायक अंग होने के रूप में ध्यान और कायोत्सर्ग में एकता है, परन्तु लक्ष्य की दृष्टि से ध्यान साधन है और कायोत्सर्ग साध्य है, अतः दोनों में भिन्नता है। ध्यानावस्था में राग, द्वेष, मोह आदि दोषों की सत्ता रह सकती है, परन्तु कायोत्सर्ग निर्दोष वीतराग स्थिति का सूचक है। ध्यान तक विरक्ति भाव रहता है वह सम्प्रज्ञात समाधि है। कायोत्सर्ग में विरक्ति भाव वीतरागता में परिणत हो जाता है। फिर कुछ भी पाना, करना और जानना शेष नहीं रहता है अर्थात् लक्ष्य को उपलब्धि हो जाती है, यह असम्प्रज्ञात समाधि है।

"जैन साधना का लक्ष्य मुक्ति है। मुक्ति का अर्थ बंधन से और पराधीनता से छुटकारा पाना है। राग-द्वेष बंधन हैं, राग-द्वेष से ही परालंबन होता है और परालंबन से राग-द्वेष पुष्ट होते हैं। परालंबन या पराश्रय ही परिग्रह है। परिग्रह पराधीनता को पुष्ट करता है। इस प्रकार राग-द्वेष और परालंबन का साधना में कहीं भी स्थान नहीं है। साधना है राग, द्वेष, परालंबन, पराश्रय, पराधीनता और परिग्रह से मुक्त होना।

संवर और निर्जरा की सारी साधना इसी का अनुसरण करती है। निर्जरा के सारे भेद निवृत्ति रूप ही हैं, संवर में भी पाँच समिति को छोड़कर समस्त भेद निवृत्ति रूप हैं। पाँच समिति में भी शरीर से संबंधित, शरीर को चलाने के लिये जो क्रियाएँ प्राकृतिक विधान में करना अनिवार्य हैं, उनके लिये प्रवृत्ति करना है, वह भी समभावपूर्वक। साधक को अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये कोई कामना (आरम्भ) नहीं करना है और न प्राप्त वस्तुओं की ममता (मूर्च्छा-परिग्रह) करना है और न शरीर से तद्रूपता (अहंभाव) रखना है एवं आरम्भ-परिग्रह का त्याग करना है। साधना में प्राप्त सामग्री के राग के निवारणार्थ उसका सेवा के रूप में सदुपयोग करना है। उसका सुख-भोग नहीं करना है।

साधना का मूलाधार है सामायिक—समभाव। समभाव में वह ही रह सकता है जो द्रष्टा है; कर्ता और भोक्ता नहीं है, अर्थात् कर्मोदय से व प्राकृतिक विधान से जैसी स्थिति का निर्माण हो रहा है, उसे राग-द्वेष रहित आनन्दपूर्वक, प्रसन्नतापूर्वक देखता रहे, सहन करता रहे। उसका उपचार-उपाय न करे। उसे सह न सके, परीषहजयी नहीं हो सके और उपचार करे तो उसे अपनी निर्बलता व कमी समझे; उसे साधना का अंग न बनाये। 'पर' के आलंबन से न कभी मुक्ति मिली है, और न मिल सकती है। 'पर' का आलंबन छूटने से ही, पर का आश्रय व शरण त्यागने से ही मुक्ति मिलने वाली है। एक प्रकार का परालंबन दूसरे प्रकार के परालंबन से छुड़ा देगा, यह मान्यता भ्रान्ति है। विष से विष मिटता है—यह सूत्र अध्यात्म मार्ग का नहीं है, यह नीतिवाक्य है, जिसका संबंध संसार से है।

शरीर में रहते हुए शरीर से असंग होना, शरीर से अनासक्त होना अर्थात् कायोत्सर्ग करना मुक्ति की साधना है; असंग होने व अनासक्त होने में शरीर का सहयोग अपेक्षित नहीं है। मानव मात्र में शरीर व संसार से असंग, अतीत होने की क्षमता है, यही मानव-भव की विशेषता है। सर्वसंग रहित होने का प्रयास ही साधना है।

धर्म-ध्यान की साधना सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। जिस साधक का लक्ष्य स्व को पर से भिन्न समझ स्व-रूप में स्थित होने का है, वह ही सम्यग्दृष्टि है। जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं है वे धर्म-ध्यान व शुक्ल ध्यान की साधना नहीं कर सकते हैं। जहाँ धर्म-ध्यान नहीं है, वहाँ आर्त या रौद्रध्यान ही है। धर्म-ध्यान की साधना के लिये सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान आवश्यक है।

राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि विकारों का निवारण करने का पुरुषार्थ करना ही साधना है। कामना, निदान, आरम्भ, परिग्रह, विषय-सुख की रुचि-प्रलोभन-भोग व आशा के त्याग से नवीन राग (बन्ध) की उत्पत्ति नहीं होती है और ममता-अहंता-परिग्रह के त्याग से उदयमान (विद्यमान) राग की निवृत्ति होती है। राग निवृत्ति ही साधना है। जो ध्यान राग से निवृत्ति करता है उसी ध्यान का साधना में स्थान है और वही धर्म-ध्यान है।

ध्यान चारित्र है, जो सम्यक्ज्ञान-दर्शन के पश्चात् ही हो सकता है। यह रागादि विकार-निवारण की साधना है जो आरम्भ-परिग्रह घटाने, व्रत धारण करने, भोगोपभोग-परिग्रह का परिमाण करने व इनके त्यागने से ही संभव है।

सभी जीवों को, दुःखों एवं दोषों से मुक्त होना इष्ट है। कोई भी व्यक्ति दुःखी होना या दोषी 'पापी' कहलाना पसन्द नहीं करता है। समस्त दोषों एवं

दु:खों का कारण मनोज्ञ विषयों के प्रति राग और अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष करना है। राग और द्वेष से ही संस्कारों का निर्माण अर्थात् कर्म-बन्ध होता है। अत: समस्त दोषों, दु:खों एवं बन्धनों से मुक्त होने के लिए राग-द्वेष रहित, वीतराग होना अनिवार्य है। वीतराग होने का सरलतम उपाय कायोत्सर्ग की साधना है और कायोत्सर्ग की उपलब्धि के लिए विरक्ति, ध्यान साधना है।

ध्यान और कायोत्सर्ग साधना से राग, द्वेष, मोह आदि समस्त दोषों से, इनसे उत्पन्न होने वाले समस्त दु:खों एवं कर्म-बन्धनों से सदा के लिए मुक्ति कैसे होती है तथा अमरत्व, निर्वाण व मोक्ष की अनुभूति कैसे होती है? प्रस्तुत पुस्तक में इसका वैज्ञानिक रूप से विश्लेषण एवं विवेचन है।

इस पुस्तक में कायोत्सर्ग के लेख समय-समय पर 'स्वान्त:सुखाय' रूप में लिखे गये हैं, अत: इनमें पुनरावृत्ति होना सम्भव है, परन्तु यह पुनरावृत्ति विषय को पुष्ट करने में उपयोगी है और कायोत्सर्ग के मूल विषय के अतिरिक्त अन्य लेख कायोत्सर्ग के अलग-अलग पक्षों को पुष्ट करने की दृष्टि से स्वतन्त्र रूप से लिखे गये हैं, अत: विषय की क्रमबद्धता भंग न हो जाये, इसे दृष्टि में रखते हुए लेखों को यथावत् दिया गया है।

''इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं णीसंकं'' वीतराग वाणी सत्य है, तथ्य है। हमें इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। केवल प्रचलित अर्थ, जो वीतरागतापरक नहीं है, उसके सही अर्थ खोजने के लिए प्रयास किया गया है। अल्पज्ञ होने के कारण यदि जिन, जिनोपासक गुरु व जिनोपदिष्ट प्रवचन की अत्यल्प भी अवज्ञा हुई हो तो मिथ्या में दुष्कृतम्।

इस कृति में जो निष्कर्ष दिए हैं, वे जैनागम एवं कर्म-सिद्धान्त के ग्रन्थों में प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर स्थापित हैं। मैंने लेखन में तटस्थ एवं सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाने का एवं भाषा में संयत रहने का प्रयास किया है। तथापि मेरे क्षयोपशमिक ज्ञान में कमी या भूल होना सम्भव है, अत: मैं उन सभी आगमज्ञ विद्वानों, तथ्य-चिन्तकों एवं विचारकों के सुझावों, समीक्षाओं, समालोचनाओं एवं मार्गदर्शन का अभारी रहूँगा, जो प्रस्तुत कृति का तटस्थ भाव से अध्ययन कर अपने मन्तव्य से मुझे अवगत करायेंगे।

मेरे जीवन-निर्माण एवं आध्यात्मिक रुचि जागृत करने में आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. की महती कृपा रही है। आज मैं जो भी हूँ, सब उन्हीं की देन है। श्री देवेन्द्रराज मेहता से गत अनेक वर्षों से मेरा निकट का सम्पर्क रहा है। आप लेखन के लिए सतत प्रेरणा देते रहे हैं तथा प्राकृत भारती अकादमी के

माध्यम से प्रकाशन कार्य को सम्पन्न करवाने में विशेष उत्साह व रुचि लेते रहे हैं। आपकी प्रेरणा के फलस्वरूप यह पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसके लिए मैं मेहता साहब का आभार एवं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। आचार्यप्रवर श्री सुदर्शनलालजी म.सा. ने इस पुस्तक का अवलोकन कर सुझाव दिये जिससे पुस्तक को सर्वांगपूर्ण व सुन्दर बनाने में सहयोग मिला। इसके लिए मैं आचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। डॉ. सागरमल जैन ने भूमिका लिखी, श्री रणजीतसिंह कूमट (सेवानिवृत्त आई.ए.एस.) ने इसका सम्पादन किया, प्राकृत भारती अकादमी ने इसे प्रकाशित किया, डॉ. धर्मचन्द्र जैन, श्री टीकमचन्द हीरावत, श्री संजय अग्रवाल और श्री गौतमचन्द जैन ने सहयोग दिया; इन सबका मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ।

–कन्हैयालाल लोढ़ा
82/141 मानसरोवर
जयपुर 302020

भूमिका

प्रस्तुत कृति का वैशिष्ट्य

सामान्यतया ध्यान और कायोत्सर्ग को एक मान लिया जाता है। जैन परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में होता रहा है, किन्तु यदि हम आगमिक प्रमाणों के आधार पर इस विषय की गम्भीर चर्चा करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्यान और कायोत्सर्ग अलग-अलग हैं।

उत्तराध्ययन के तीसवें तप नामक अध्ययन में तप के दो भाग किए गए हैं—

1. बाह्य तप और 2. आभ्यन्तर तप।

पुनः उसमें आभ्यन्तर तप के छः भेदों की चर्चा करते हुए ध्यान और कायोत्सर्ग को अलग-अलग बताया गया है।

आदरणीय लोढ़ाजी ने प्रस्तुत कृति में ध्यान एवं कायोत्सर्ग के सह-सम्बन्धों की जो चर्चा की है, वह महत्त्वपूर्ण है। ध्यान और कायोत्सर्ग में सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि ध्यान चित्तवृत्तियों की एकाग्रता एवं आत्म-सजगता की साधना का सूचक है, जबकि कायोत्सर्ग का सम्बन्ध देहातीत होने की साधना से है। ध्यान में चितवृत्ति की एकाग्रता और उसके प्रति सजग होने या उसका द्रष्टा होने की साधना की जाती है, जबकि कायोत्सर्ग में बाह्य विषयों और शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव की साधना की जाती है। ध्यान में चित्तवृत्तियों के शुभ और अशुभ, दोनों दिशाओं में केन्द्रित होने की सम्भावना बनी रहती है, यही कारण है कि आगमों में आर्त और रौद्र को भी ध्यान कहा गया है, किन्तु चित्तवृत्ति का अशुभ योग में प्रवर्तन अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान में प्रवर्तन मूलतः देहासक्ति के कारण ही होता है। छठे गुणस्थान तक होने वाले आर्त ध्यान और पाँचवें गुणस्थान तक होने वाले रौद्र ध्यान देहासक्ति के कारण ही उत्पन्न होते हैं। अतः चित्तवृत्ति को अशुभ से विमुख करके शुभ या शुद्ध से जोड़ने के लिए ध्यान के साथ-साथ कायोत्सर्ग की साधना अपेक्षित है। ध्यान की स्थिरता भी तभी सम्भव है जब व्यक्ति देहासक्ति से ऊपर हो, क्योंकि देहभाव ही ध्यान के

विचलन का मुख्य हेतु रहा हुआ है। यही कारण है कि आभ्यन्तर तपों की चर्चा करते हुए ध्यान के बाद ही कायोत्सर्ग को स्थान दिया गया है। ध्यान में आत्मसजगता के अभाव में यदि चित्तवृत्ति शुभ या अशुभ में प्रवहमान हो अथवा शुभ या अशुभ में एकाग्र हो तो आश्रव एवं बन्ध की सम्भावना बनी रहती है, जबकि कायोत्सर्ग सदैव ही संवर और निर्जरा का हेतु है। ध्यान की उच्चतम स्थितियों में जब साधक सजग या अप्रमत्त चेता या मात्र ज्ञाता-द्रष्टा भाव में होता है तभी वह संवर का हेतु बनता है, किन्तु निर्जरा तो तभी सम्भव है जब ध्यान कायोत्सर्गपूर्वक होता है।

जैन कर्म सिद्धान्त स्पष्ट रूप से यह बताता है कि अप्रमत्त संयत गुणस्थान से अग्रिम आध्यात्मिक ऊँचाइयों की ओर अग्रसर होते हुए साधक जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, उसके नवीन कर्मों के आश्रव रुकते जाते हैं। यहाँ तक कि ग्यारहवें गुणस्थान में मात्र सातावेदनीय कर्म का ही आश्रव रहता है। यद्यपि मोक्ष मार्ग की साधना में संवर की साधना आवश्यक है, किन्तु जब तक पूर्वकर्मों की निर्जरा न हो, वे सत्ता में बने रहते हैं और तब तक पतन की सम्भावना समाप्त नहीं होती। ध्यान मूलतः चित्तवृत्ति की एकाग्रता अथवा सजगता है। इससे अप्रमत्त साधक के आश्रव तो रुक सकते हैं, निर्जरा भी होती है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता समाप्त नहीं होती है। कर्मों की सत्ता तभी समाप्त होती है जब निर्जरा हेतु कायोत्सर्ग करने का प्रयत्न और पुरुषार्थ हो।

ध्यान चित्तवृत्ति का संयम है, क्योंकि जैसे-जैसे आत्म-सजगता बढ़ती है, वैसे-वैसे मन निष्क्रिय होता जाता है। मन के निष्क्रिय होने से अन्य योग-प्रवृत्तियाँ शिथिल होती जाती हैं, क्योंकि ज्ञाता-द्रष्टाभाव और कर्ता-भोक्ताभाव एक साथ सम्भव नहीं हैं, अतः ध्यान से जैसे-जैसे ज्ञाता-द्रष्टाभाव पुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे ध्यान कायोत्सर्ग में परिणत होता जाता है, जिससे बाह्य जगत् के उपादानों एवं शरीर के प्रति निर्ममत्व की साधना जगती जाती है, देहासक्ति टूटती जाती है, वैसे-वैसे सत्ता में रहे हुए कर्मदलिकों की निर्जरा की गति प्रतिसमय अनन्त गुणा होती जाती है।

योगशास्त्र में जिन आठ योगांगों की चर्चा है उनमें ध्यान के बाद समाधि का क्रम है। वस्तुतः कायोत्सर्ग समाधि की साधना है। वह कर्मनिर्जरा हेतु आसक्ति या रागात्मकता के प्रहाण सम्बन्धी पुरुषार्थ की अवस्था है। कर्मों की स्थिति और उनका रस या अनुभाग कषाय या राग-द्वेष पर आधारित होता है और राग-द्वेष में भी द्वेष राग के आधार पर जीवित रहता है, अतः साधना का मूल लक्ष्य राग का प्रहाण और वीतरागता की उपलब्धि है।

प्रस्तुत कृति में आदरणीय लोढ़ाजी की दृष्टि में कायोत्सर्ग मात्र देह का शिथिलीकरण नहीं है। इसी प्रकार वह केवल चित्तवृत्ति की सजगता और निष्क्रियता की अवस्था भी नहीं है। वह आत्मपुरुषार्थ की स्थिति है, जिसमें साधक अपनी ममत्व बुद्धि का प्रहाण या निरसन करता है।

कायोत्सर्ग शब्द मूलतः दो शब्दों से बना है—काय+उत्सर्ग। किन्तु कायोत्सर्ग में भी 'काया' का त्याग सम्भव नहीं है। वस्तुतः काय के प्रति ममत्व वृत्ति का त्याग ही कायोत्सर्ग है। जैन परम्परा में 'व्युत्सर्ग' शब्द को अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। मूलतः व्युत्सर्ग के दो भेद हैं—

1. द्रव्य व्युत्सर्ग और 2. भाव व्युत्सर्ग। वस्तुतः बाह्य वस्तुओं का त्याग द्रव्य व्युत्सर्ग है तो मनोवृत्तियों का त्याग भाव व्युत्सर्ग है। जैन आचार्यों ने द्रव्य व्युत्सर्ग के निम्न चार भेद माने हैं—

1. शरीर व्युत्सर्ग, 2. गण व्युत्सर्ग, 3. उपधि व्युत्सर्ग और 4. भक्त-पान व्युत्सर्ग।

ये सभी बाह्य वस्तुओं के प्रति ममत्व बुद्धि के त्याग रूप हैं, क्योंकि जब तक ममत्व वृत्ति का उच्छेद नहीं होता है, तब तक बाह्य पदार्थों के त्याग का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसलिये व्युत्सर्ग के मूल में तो कहीं-न-कहीं भाव या मनोवृत्ति का तत्त्व ही प्रमुख रहा हुआ है। भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद किए जाते हैं—1. कषाय व्युत्सर्ग, 2. संसार व्युत्सर्ग और 3. कर्म व्युत्सर्ग। कषाय व्युत्सर्ग का अर्थ है—क्रोध, मान, माया एवं लोभ की वृत्तियों का त्याग। इसी प्रकार संसार व्युत्सर्ग का तात्पर्य है—नारक, देव, तिर्यंच और मनुष्य योनि के प्रति किसी प्रकार के निदान या आसक्ति अथवा उन गतियों के बन्धन के हेतुओं का त्याग। पुनः कर्म व्युत्सर्ग भी दो प्रकार से होता है—1. कर्मबन्ध के हेतुओं का त्याग और 2. पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा का प्रयत्न। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कर्म व्युत्सर्ग भी द्रव्य कर्मों की निर्जरा के रूप में जहाँ द्रव्य व्युत्सर्ग रूप होता है, वहीं राग-द्वेषादि की वृत्तियों के त्याग से भावात्मक या भाव रूप भी होता है—इस प्रकार हम देखते हैं कि व्युत्सर्ग शब्द व्यक्ति के राग-द्वेष का प्रहाण करके उसे वीतरागता की ओर ले जाता है। वस्तुतः कायोत्सर्ग देह में रहते हुए भी देहातीत होने की साधना है। कायोत्सर्ग की साधना से व्यक्ति देहातीत अवस्था की ओर ऊपर उठता है, अतः कायोत्सर्ग का स्थान ध्यान से ऊपर है। वह राग के प्रहाण और वीतरागता की उपलब्धि का साधन है। यह वीतरागता की उपलब्धि ही सम्पूर्ण जैन साधना का चरम

लक्ष्य है। ध्यान और कायोत्सर्ग का लक्ष्य भी वीतरागता की उपलब्धि है, इसलिये प्रस्तुत कृति में आदरणीय लोढ़ाजी ने यह कहा है कि वीतरागता ही दु:ख विमुक्ति का एकमात्र उपाय है, क्योंकि जब तक राग है तभी तक दु:ख है। दु:ख विमुक्ति हेतु राग का प्रहाण आवश्यक है। ध्यान वस्तुत: राग-द्वेष का प्रहाण है। साम्य योग की साधना भी उसी का दूसरा नाम है। जैन साधना साम्य योग या वीतरागता की साधना है। दूसरे शब्दों में कहें तो जैन साधना का अथ और इति, दोनों ही साम्य योग की इस साधना में ही हैं, जिसे पारम्परिक शब्दों में सामायिक की साधना कहा जाता है।

भगवती सूत्र में कहा गया है कि आत्मा समत्व-स्वरूप है और समत्व की उपलब्धि ही आत्मा का साध्य है। हमारे चित्त का विचलन कषायों के कारण है, अत: चित्त की एकाग्रता तभी सम्भव है जब व्यक्ति कषायों के आवेग से ऊपर उठे। कषायों के आवेगों से ऊपर उठने का यह प्रयत्न ही लोढ़ाजी की दृष्टि में कायोत्सर्ग है।

व्यक्ति का समत्व से विचलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप कषायजन्य आवेगों और राग-द्वेष की वृत्तियों के परिणामस्वरूप होता है और इन आवेगों का जन्म स्थान हमारा चित्त ही होता है। ध्यान साधना के प्राथमिक चरणों में आवेगों के निमित्त मिलने पर सर्वप्रथम उन निमित्तों के प्रति प्रतिक्रिया को रोकना होता है। ये प्रतिक्रियाएँ कायिक, वाचिक और मानसिक, तीनों ही हो सकती हैं। इसलिये कायोत्सर्ग की साधना का प्रारम्भ ही निम्न शब्दों के साथ होता है–

'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि'

इस सूत्र का तात्पर्य है ''मैं काया से स्थिर होकर वचन से मौन होकर एवं चित्तवृत्तियों की भागदौड़ को स्थिर कर 'पर' के प्रति अपनी ममत्व वृत्ति का विसर्जन करता हूँ।'' वस्तुत: यह सूत्र वीतराग ध्यान साधना का आधारभूत सूत्र है। इसमें कायोत्सर्ग और ध्यान, दोनों ही समाहित हैं। प्रथम तीन सूत्रों का सम्बन्ध तीनों योगों की स्थिरता अर्थात् ध्यान से है जबकि अन्तिम सूत्र का सम्बन्ध ममत्व वृत्ति के विसर्जन से है अर्थात् कायोत्सर्ग से है। सामान्यतया अप्पाणं वोसिरामि का अर्थ आत्मा का विसर्जन न होकर आत्मभाव या अपनेपन का विसर्जन है, ममत्व वृत्ति का विसर्जन है। ममत्व वृत्ति का विसर्जन समत्व की साधना और वीतरागता की उपलब्धि का आवश्यक तत्त्व है।

प्रस्तुत कृति में आदरणीय लोढ़ाजी ने कायोत्सर्ग की जो चर्चा की है उसमें उन्होंने कायोत्सर्ग का लक्ष्य देहातीत होना या देहाभिमान से रहित होना बताया

है। वह पूर्णतया समुचित है। मैं उनके इस कथन से भी पूर्णत: सहमत हूँ कि कायोत्सर्ग मात्र शरीर का शिथिलीकरण नहीं है, वह कर्म-निर्जरा के माध्यम से वीतरागता की उपलब्धि का प्रयत्न या पुरुषार्थ है।

इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि समत्व की उपलब्धि ही ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना का मूलभूत लक्ष्य है।

आदरणीय लोढ़ाजी ने जो कहा है कि ध्यान कायोत्सर्ग तक पहुँचने की प्रक्रिया या पद्धति है—उनका यह कथन शत-प्रतिशत सत्य है, क्योंकि ध्यान अर्थात् योगों की चंचलता को समाप्त कर कायोत्सर्ग अर्थात् निर्ममत्व की साधना से ही वीतरागता की उपलब्धि सम्भव है।

ध्यान साधना के क्षेत्र में आसन और प्राणायाम की भूमिका मात्र इतनी ही है कि आसन कायस्थिरता को साधने का उपाय है तो प्राणायाम वचन के मौन और मन की एकाग्रता को साधने का उपाय है। इस प्रकार आसन, प्राणायाम, ध्यान और कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग में एक सह-सम्बन्ध है। साथ ही उनमें क्रम भी है। उस क्रम में आसन प्रथम अंग है और कायोत्सर्ग अन्तिम है।

कृति के अन्त में ध्यान व कायोत्सर्ग को दु:ख-विमुक्ति का उपाय कहा गया है वह व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक, दोनों ही दृष्टियों से समुचित है, क्योंकि समस्त दु:खों का जन्म ममत्व वृत्ति के कारण ही होता है। जिन-जिन वस्तुओं और व्यक्तियों पर हम ममत्व का आरोपण करते हैं, उनके साथ घटने वाली घटनाएँ ही हमारे दु:ख का कारण होती हैं। दु:ख-विमुक्ति प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य होता है, किन्तु जब तक दु:खों के मूल कारण आसक्ति का उच्छेद नहीं होता, तब तक दु:ख-विमुक्ति सम्भव नहीं है। ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना ममत्व वृत्ति के उच्छेद के द्वारा हमें दु:खों से मुक्त करती है और यही ध्यान व कायोत्सर्ग की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। ध्यान अर्थात् आत्म-सजगता के बिना कायोत्सर्ग सम्भव नहीं होता है। पुन: ध्यान हेतु भी कषायों का उपशान्त होना आवश्यक है, किन्तु कषायों को उपशान्त करने के लिए व्युत्सर्ग अर्थात् ममत्व वृत्ति का त्याग आवश्यक है। अत: ध्यान के बिना कायोत्सर्ग और कायोत्सर्ग के बिना ध्यान सम्भव नहीं हैं।

प्रस्तुत कृति में आदरणीय कन्हैयालालजी लोढ़ा की ये प्रस्थापनाएँ न केवल आगमिक या शास्त्रीय आधार पर खड़ी हुई हैं, अपितु उनके पीछे एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही हुई है। उन्होंने ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना के व्यावहारिक पक्ष और उनकी उपादेयता को भी सम्यक् रूप से प्रस्थापित किया

है। उनकी यह कृति न केवल पाठकों को ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्रदान करेगी, अपितु उन्हें ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना के लिये प्रेरित कर आत्म-उपलब्धि का व्यावहारिक मार्ग भी प्रस्तुत करेगी। वे इसी प्रकार अपने सम्यग्ज्ञान और सम्यक् साधना के द्वारा जन-जन का मार्गदर्शन करते रहें, यही अपेक्षा है।

शाजापुर
श्रावण पूर्णिमा
18-8-2005

डॉ. सागरमल जैन
संस्थापक निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ
शाजापुर (मध्यप्रदेश)

कायोत्सर्ग व व्युत्सर्ग

ध्यान की चरम स्थिति व फल कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया का उत्सर्ग करना, देहातीत अवस्था का अनुभव करना। अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग को 'व्रण-चिकित्सा' कहा है, जो उपयुक्त ही है, क्योंकि भोगासक्ति, मोह, असंयम आदि दोषों के कारण आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों के घात करने रूप घाव हो जाते हैं। उन घावों का उपचार (चिकित्सा) कायोत्सर्ग है। साधक के आत्मिक गुणों के घात (घाव) को जैनागमों में अतिचार कहा है। इन अतिचारों के विशोधन के लिये ही कायोत्सर्ग का विधान है, जैसा कि आवश्यक सूत्र के पाँचवें आवश्यक कायोत्सर्ग के प्रतिज्ञा पाठ में कहा है :

आवस्सं ही इच्छाकारेणं संदिसह भगवं! देवसिय पडिक्कमणं ठाएमि देवसिय-णाण-दंसण-चरित्त-तव-अइयार विसोहणट्ठं करेमि काउसग्गं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिचारों के विशोधनार्थ कायोत्सर्ग करता हूँ। अतिचारों से रहित होना, निर्दोष होना है। इस प्रतिज्ञा पाठ के पश्चात् सामायिक सूत्र (करेमि भंते का पाठ), प्रतिक्रमण सूत्र (इच्छामि ठामि काउसग्गं का पाठ) तथा कायोत्सर्ग सूत्र (तस्स उत्तरीकरणेणं का पाठ) बोले जाते हैं, जो कायोत्सर्ग (देहातीत होने) के लिये साधन रूप हैं।

कायोत्सर्ग अर्थात् देहातीत अवस्था का अनुभव करने के लिये अंतर्मुखी होना और बहिर्मुखी प्रवृत्ति रहित होना आवश्यक है। बहिर्मुख वह ही होता है, जिसकी मन, वचन व शरीर की क्रियाएँ बहिर्गमन कर रही हैं। इसे आगम में सावद्य योग कहा है। सावद्य योग में कर्तृत्व, भोक्तृत्व (फलाकांक्षा) भाव होने से राग-द्वेष उत्पन्न होता है, जिससे समत्वभाव भंग होता है। समत्व के अभाव में कोई भी साधना व चारित्र संभव नहीं है। अतः 'करेमि भंते' के पाठ से समत्व को ग्रहण करने के लिये सावद्य योग का त्याग किया जाता है। इसे ही सामायिक चारित्र कहा है। पाठ का भावार्थ है : "हे भगवन्! मैं पापकारी सावद्य प्रवृत्तियों (क्रियाओं) को त्यागकर सामायिक (समत्व) ग्रहण करता हूँ। मैं मन, वचन और शरीर से पापकर्म न स्वयं करूँगा, न दूसरों से कराऊँगा और न पापकर्म करते हुए को भला मानूँगा। हे भगवन्! मैं पापकर्मों का प्रतिक्रमण करता हूँ, निंदा

करता हूँ, त्याग करता हूँ और अपने को पापकारी क्रियाओं से अलग (असंग) करता हूँ।''

इसके पश्चात् 'चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, धम्मं सरणं पवज्जामि'—यह पाठ तीन बार बोलें। फिर प्रतिक्रमण सूत्र पाठ बोलें। ऊपर सामायिक सूत्र में समत्व में स्थिर रहने के लिये प्रतिक्रमण की प्रतिज्ञा की गई, कारण कि प्रतिक्रमण द्वारा पापों से मुँह मोड़े (विमुख हुए) बिना कायोत्सर्ग साधना संभव नहीं है। अतः इसके लिये प्रतिक्रमण सूत्र का विधान है, जिसका भावार्थ है :

'मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। मैंने दिन में जो कायिक, वाचिक तथा मानसिक अतिचार (दोष) किए हों, जो सूत्र से, मार्ग से, आचार से विरुद्ध हैं, नहीं करने योग्य हैं, दुर्ध्यान रूप हैं, अनिष्ट व अनाचरणीय हैं, साधु के लिये अनुचित हैं, इन अतिचारों से तीन गुप्ति, चार कषायों की निवृत्ति, पाँच महाव्रत, छह जीव निकायों की रक्षा, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचन माता, नौ ब्रह्मचर्य, गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म-संबंधी कर्तव्य खण्डित हुए हों अथवा विराधित हुए हों तो वे सब पाप मेरे लिए मिथ्या, निष्फल हों।'

इसके पश्चात् कायोत्सर्ग के विधान का सूत्र पाठ है, जिसका भावार्थ निम्न प्रकार है। यथा— तस्सउत्तरिकरणेणं.....ताव कायं ठाणेणं।

'आत्मा की उत्कृष्टता—श्रेष्ठता के लिये, दोषों के प्रायश्चित्त के लिये, विशेष शुद्धि करने के लिये, शल्य रहित होने के लिये, पापकर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास, खाँसी, छींक, जंभाई, डकार, अपानवायु, चक्कर, पित्त की मूर्च्छा, अंग, कफ व दृष्टि के सूक्ष्म संचार से, अर्थात् शारीरिक क्रियाओं के अशक्य परिहार के अतिरिक्त काया के व्यापारों से निश्चल व स्थिर रहकर, वाणी से मौन रहकर, मन से ध्यानस्थ होकर अपने को शरीर से परे करता हूँ।'

यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'अप्पाणं वोसिरामि' का अर्थ आत्मा का विसर्जन करना नहीं है, अपितु देह के प्रति अपनेपन के भाव का विसर्जन करना है, क्योंकि विसर्जन व परित्याग आत्मा का नहीं, अपनेपन के भाव अर्थात् ममत्व बुद्धि का होता है। जब कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाता है, तभी ध्यान की सिद्धि होती है और जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो आत्मा अयोग दशा अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः यह स्पष्ट है कि ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है। (आवश्यक सूत्र—आगार सूत्र (श्रमणसूत्र-अमरमुनि), प्र.सं., पृष्ठ 376)

देह, शरीर, तन काया के ही पर्यायवाची शब्द हैं। वर्तमान में भाषा में काया के स्थान पर देह तथा शरीर शब्द का अधिक प्रयोग होता है। इस दृष्टि से 'कायोत्सर्ग' का अर्थ हुआ देह का उत्सर्ग, शरीर का उत्सर्ग।

जीव का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध देह (काया) से है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, देह के ही अंग हैं। देह से भिन्न इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसलिये देहान्त होते ही इनका भी अन्त हो जाता है। श्रौत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इन्द्रियाँ एवं मन जब अपने विषयों में प्रवृत्ति करते हैं, तब इनका वस्तुओं से अर्थात् संसार से सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार शरीर का वस्तुओं से, संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है। अतः शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा इनके विषय-वस्तुएँ एवं संसार, इन सबमें जातीय एकता है। ये सब एक ही जाति 'पुद्गल' के रूप हैं। पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें जल के बुदबुदे की तरह उत्पत्ति और विनाश हो, जो क्षणभंगुर हैं। विनाशी होने से देह से सम्बन्धित इन्द्रियाँ, मन, विषय एवं संसार की समस्त दृश्यमान वस्तुएँ नश्वर, परिवर्तनशील, अनित्य, अध्रुव, क्षणभगुर हैं और एक ही जाति की हैं। इनका परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें जातीय एकता है, प्रवृत्ति की भिन्नता है। परन्तु देह में निवास करने वाली आत्मा, जो इन सबकी परिवर्तनशीलता व नश्वरता की ज्ञाता है, वह अपरिवर्तनशील, अविनाशी, ध्रुव व नित्य है। इस प्रकार शरीर और संसार के समस्त पदार्थ विनाशी होने से अविनाशी आत्मा से भिन्न स्वभाव वाले हैं। इन पदार्थों की आधीनता ही पराधीनता है।

आत्मा देह से दो प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती है—भेद-भाव का तथा अभेद-भाव का। मेरी देह है, मेरी इन्द्रियाँ हैं—ऐसा ममता रूप सम्बन्ध स्वीकार करना भेदभाव का सम्बन्ध है। मैं देह हूँ, देह का अस्तित्व ही मेरा अस्तित्व है। देह में ऐसा अहंभाव, अहंकार, तादात्म्य होना अभेद-भाव का सम्बन्ध है। 'मैं' (अहन्ता) अभेद-भाव के सम्बन्ध का और 'मेरापन' (ममता) भेद-भाव के सम्बन्ध का द्योतक है।

देह या शरीर संसार की जाति का होने से संसार का ही अंग है, अतः देह से सम्बन्ध स्थापित करते ही संसार से सम्बन्ध हो जाता है। यह नियम है कि जिससे सम्बन्ध हो जाता है उससे जुड़ाव (Attachment) हो जाता है। जुड़ाव होना, अर्थात् किसी से जुड़ना ही उससे बँधना है। सम्बन्ध शब्द बना ही 'बन्ध' शब्द से है। इन्द्रियाँ देह का अंग हैं। अतः देह से सम्बन्ध होने से इन्द्रियों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इन्द्रियों का कार्य शब्द-रूप आदि विषयों में प्रवृत्ति व कर्म करना है। विषयों का सम्बन्ध वस्तुओं से है और वस्तुओं का

सम्बन्ध संसार से है। इस प्रकार देह से इन्द्रियों का, इन्द्रियों का विषयों से, विषयों का वस्तुओं से और वस्तुओं का संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है। अतः देह से सम्बन्ध स्थापित करना समस्त सम्बन्धों का एवं समस्त बन्धनों का कारण है।

बन्धन-मुक्त होने के लिए सम्बन्ध-मुक्त होना आवश्यक है। सम्बन्ध-मुक्त होने के लिए देह से सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है। देह (काया) से सम्बन्ध-विच्छेद होना कायोत्सर्ग है। काया का इन्द्रियों से अंग-अंगी सम्बन्ध है। अतः कायोत्सर्ग से इन्द्रियों और उनके विषयों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है जिससे विषयासक्ति (कषाय) और विषयों का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। विषयासक्ति से रहित होने पर कर्तृत्व व भोक्तृत्व भाव का अन्त हो जाता है। जिससे कर्म बँधना बन्द हो जाता है और कर्मोदय का प्रभाव बलहीन हो जाता है अर्थात् कर्म का व्युत्सर्ग हो जाता है। भोगासक्ति या कषाय का विच्छेद (क्षीण होना) कषाय-व्युत्सर्ग है। संसार से सम्बन्ध-विच्छेद होना संसार व्युत्सर्ग है। आशय यह है कि कायोत्सर्ग से, देहाभिमान रहित होने से शरीर, संसार, कषाय व कर्म का व्युत्सर्ग हो जाता है अर्थात् इनके बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।

कर्तृत्व भाव से की गई प्रवृत्ति श्रमयुक्त होती है। श्रम काया के आश्रय के बिना, पराधीन हुए बिना नहीं हो सकता। काया के आश्रित तथा पराधीन रहते हुए काया से असंग होना सम्भव नहीं है, काया से असंग हुए बिना कायोत्सर्ग नहीं होता है। कायोत्सर्ग के बिना अर्थात् काया से जुड़े रहते जन्म-मरण, रोग, शोक, अभाव, तनाव, हीनभाव, द्वन्द्व आदि दुःखों से मुक्ति कदापि सम्भव नहीं है। अतः समस्त श्रमसाध्य प्रयत्नों एवं क्रियाओं की प्रवृत्तियों से रहित होने पर कायोत्सर्ग होता है। कायोत्सर्ग ही निर्वाण है एवं सर्वदुःखों से मुक्त होना है।

कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग

कायोत्सर्ग को (उत्तराध्ययन सूत्र अ. 30, गाथा 36 में) आभ्यन्तर तप के छठे प्रकार व्युत्सर्ग में कहा है कि भिक्षु सोने, बैठने, खड़े रहने आदि शरीर से कोई प्रवृत्ति नहीं करता है उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। व्युत्सर्ग का अर्थ है—ममत्व का त्याग करना, परे होना, असंग होना, अतीत होना, सम्बन्ध-विच्छेद करना। प्राणी का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध शरीर से होता है। उसके क्रिया-कलाप, भोग-परिभोग शरीर के आश्रय से ही होते हैं। उसे शरीर का अस्तित्व अपना अस्तित्व प्रतीत होता है। देह के प्रति आत्म-बुद्धि (अपनापन) इतना दृढ़ हो जाता है कि 'मैं देह हूँ'—उसे ऐसा आभास होता है। देह में ऐसा अहंत्व व

देहाभिमान होने से ही कामनाओं, ममताओं आदि समस्त विषय-कषाय आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। इस विकारों का नाश करना ही व्युत्सर्ग साधना है।

विवाह प्रज्ञप्ति सूत्र के शतक 25 उद्देशक 7 के अनुसार व्युत्सर्ग के भेद-उपभेद इस प्रकार हैं–

व्युत्सर्ग मूलतः दो प्रकार का है–1. द्रव्य व्युत्सर्ग और 2. भाव व्युत्सर्ग।

द्रव्य व्युत्सर्ग–द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का है–1. गण (परिवेश, समुदाय) व्युत्सर्ग 2. शरीर व्युत्सर्ग 3. उपधि (उपकरण, साधन-सामग्री) व्युत्सर्ग और 4. भक्त-पान (आहार आदि–इन्द्रियों के भोग) व्युत्सर्ग।

शरीर से सम्बन्धित इन चारों बाहरी प्रकारों के ममत्व व आसक्ति रहित होना द्रव्य व्युत्सर्ग है।

भाव व्युत्सर्ग–भाव व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है–1. कषाय-व्युत्सर्ग 2. संसार व्युत्सर्ग और 3. कर्म-व्युत्सर्ग।

कषाय-व्युत्सर्ग–कषाय-व्युत्सर्ग चार प्रकार का है–1. क्रोध व्युत्सर्ग 2. मान व्युत्सर्ग 3. माया व्युत्सर्ग और 4. लोभ व्युत्सर्ग। इन चारों कषायों से रहित होना कषाय-व्युत्सर्ग है।

संसार व्युत्सर्ग–संसार व्युत्सर्ग चार प्रकार का है–1. नैरयिक संसार व्युत्सर्ग 2. तिर्यंच संसार व्युत्सर्ग 3. मनुष्य संसार व्युत्सर्ग और 4. देव संसार व्युत्सर्ग। इन चार गतियों में रोके रखने वाले कारणों का त्याग करना संसार व्युत्सर्ग है।

कर्म-व्युत्सर्ग– कर्म-व्युत्सर्ग आठ प्रकार का है–1. ज्ञानावरणीय कर्म-व्युत्सर्ग 2. दर्शनावरणीय कर्म-व्युत्सर्ग 3. वेदनीय कर्म-व्युत्सर्ग 4. मोहनीय कर्म-व्युत्सर्ग 5. आयुष्यकर्म-व्युत्सर्ग 6. नामकर्म-व्युत्सर्ग 7. गोत्रकर्म-व्युत्सर्ग और 8. अन्तरायकर्म-व्युत्सर्ग। इन आठों कर्मों के बन्ध के कारणों का त्याग करना कर्मव्युत्सर्ग है।

उपर्युक्त वर्णित व्युत्सर्गों में गण, शरीर, उपधि और भक्त-पान व्युत्सर्ग का अर्थ इनकी सुख-लोलुपता व दासता से रहित होना है। कषाय, संसार और कर्म-व्युत्सर्ग का अर्थ है–इनकी आसक्ति, राग, ममत्व से रहित होना, इनसे प्रभावित नहीं होना है अर्थात् देहातीत और लोकातीत होना है।

देह में अहंत्व (मैं-पन) व अपनत्व (ममत्व) होने से देहाभिमान उत्पन्न होता है। देहाभिमान से शरीर और संसार से सुख लेने की लालसा उत्पन्न होती

है, जो शरीर और संसार की दासता में आबद्ध कर देती है। विवेक के प्रकाश में देखने से इनकी अनित्यता का बोध होता है, जिससे इनसे विरक्ति होती है। विरक्ति इनकी आसक्ति को क्षीण कर इनकी दासता से मुक्त कर देती है। दासता से सर्वांश में मुक्त होते ही स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। यह ही मुक्ति की अनुभूति है। यह ही साधक का सिद्धत्व प्राप्त करना है।

पहले कह आए हैं कि व्युत्सर्ग का अर्थ है सम्बन्ध रहित होना, असंग होना, अतीत होना। स्वानुभूति होने पर अर्थात् निज-स्वरूप का बोध होने पर देह से असंगता हो जाती है अर्थात् देहातीत अवस्था हो जाती है। इसे व्युत्सर्ग व कायोत्सर्ग कहा है। विषय-भोगों से अर्थात् संसार से और कषाय से असंगता हो जाने से इसे संसार-व्युत्सर्ग व कषाय-व्युत्सर्ग कहा है। भोक्ता व कर्ता भाव का अभाव होने से इसे कर्म-व्युत्सर्ग भी कहा है। भोगेच्छा का अभाव हो जाने से संसार से कुछ भी सुख पाने की इच्छा शेष नहीं रहती। जिससे प्रवृत्ति, क्रिया या योग का अभाव हो जाता है, जिससे कर्म का प्रकृति तथा प्रदेश बंध होना बंद हो जाता है और कषाय का अभाव हो जाने से कर्म का स्थिति व अनुभाग बंध नहीं होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग से साधक के चारों प्रकार का बंध रुक जाता है। सुख की दासता और दुःख का भय मिट जाने से वीतराग अवस्था में सुख-दुःख से अतीत परमानन्द, सच्चिदानंद का अनुभव होता है। दुःख का भय नहीं रहने से असातावेदनीय का बंध होना बन्द हो जाता है और स्वतःस्फूर्त सातावेदनीय का बन्ध भी अबंध तुल्य ही होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग में काया आदि बाह्य साधनों, विषय-भोगों, कषायों, कर्म-बंध आदि से अलिप्तता, असंगता रूप व्युत्सर्ग हो जाता है। उसे किसी प्रकार के संगठन या गण की आवश्यकता नहीं रहने से गणव्युत्सर्ग हो जाता है। बाह्य साधन-सामग्री या उपधि तथा भोजन आदि की निर्भरता नहीं रहने से उपधिव्युत्सर्ग एवं भक्तपान व्युत्सर्ग स्वतः हो जाता है।

व्युत्सर्ग से निज-स्वरूप का बोध हो जाने पर कर्ताभाव न रहने से मन, वचन, काया की क्रियाएँ करने का संकल्प नहीं रहता है। निःसंकल्प होने के पश्चात् इनकी क्रिया नैसर्गिक रूप में होने लगती है, मुमुक्षु साधक के कल्याण के लिए स्वाभाविक रूप से स्वतः प्रकट होती है।

यह नियम है कि जब किसी क्रिया में कर्तृत्वभाव, अहंभाव का अन्त हो जाता है, जो क्रिया अहंभाव से उत्पन्न नहीं होती, उसमें आसक्ति व राग नहीं होता, इसलिये उसका रस अंकित नहीं होता अर्थात् उसका रसबंध नहीं होता। निर्वासना होने पर चिन्तन रूप प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। चित्त शान्त हो जाता है। शान्त चित्त

में प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है। जैसे-जैसे उस प्रसन्नता से असंगता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे निज स्वरूप की अनुभूति प्रगाढ़ होती जाती है, परन्तु इसके साथ मैं शान्त हूँ, मैं प्रसन्न हूँ—ऐसा सीमित अहंभाव भी विद्यमान रहता है। प्रसन्नता का उपभोग न करने पर अर्थात् शान्ति में रमण न करने पर शान्तिजनित प्रसन्नता से ऊपर उठने की, अहंभाव से अतीत होने की सामर्थ्य आ जाती है। प्रसन्नता का उपभोग न करने पर ध्याता और ध्येय का भेद मिटकर दोनों में एकत्व हो जाता है। फिर किसी भी प्रकार का संकल्पात्मक विचार उत्पन्न नहीं होता है। साधक निज स्वरूप से उसी प्रकार अभिन्न हो जाता है जिस प्रकार आक्सीजन और हाइड्रोजन गैस मिलकर जल बनने पर अभिन्न हो जाते हैं। उन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता है। अहंभाव का सर्वथा अभाव होने से "मैं" का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता है। मैं का अस्तित्व अविनाशी में परिणत हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के सब आवरणों का आत्यन्तिक अंत (नाश) या क्षय हो जाता है। जिस प्रकार मूल कट जाने पर वृक्ष कुछ काल तक हरा-भरा रहता है उसी प्रकार अहंभाव का उन्मूलन (क्षय) हो जाने पर वीतराग की क्रियाएँ जीवनपर्यन्त स्वतः राग रहित होती रहती हैं।

'राग' तटस्थ तथा समत्व में स्थित नहीं होने देता जिससे यथार्थता का बोध नहीं होने पाता। सुख-भोग की विनश्वरता, अस्थिरता, पराधीनता का बोध होने पर विषयों, सुखों के प्रति उत्पन्न विराग-वैराग्य से राग क्षीण हो जाता है तब चित्त शान्त हो जाता है। शान्त चित्त में श्रुतज्ञान स्वयंसिद्ध स्वभाव का, स्वाभाविक ज्ञान, यथार्थ ज्ञान (सम्यक्ज्ञान) स्वतः प्रकट होता है। चित्त की शान्त स्थिति में ही विषय-कषाय व कर्म के त्याग का सामर्थ्य आता है। विषयों के त्याग से शरीर व शरीर से सम्बन्धित संसार से व्युत्सर्ग हो जाता है अर्थात् देहातीत-लोकातीत अलौकिक अवस्था का अनुभव हो जाता है। कषाय के त्याग से कषाय-व्युत्सर्ग हो जाता है अर्थात् साधक वीतराग हो जाता है। कर्म के 'कर्तृत्वभाव' के त्याग से कर्मबंध का व्युत्सर्ग हो जाता है। जिससे घाति कर्मों का क्षय हो जाता है और अघाति कर्म जली हुई रस्सी के समान शेष रह जाते हैं अर्थात् इन अघाति कर्मों से जीव के किसी भी गुण की व अन्य किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती है और आयु पूर्ण हो जाने पर सब अघाति कर्म की प्रकृतियाँ स्वतः निर्जरित हो जाती हैं और सिद्धत्व की उपलब्धि हो जाती है जो अलौकिक व अनिर्वचनीय है।

सारांश यह है कि 'मैं' देह (काया) हूँ, यह देह (काया) में 'मैं'-पन होना, देह में अहंत्व होना, देहाभिमान है। देहाभिमान ही समस्त दोषों की जड़ है। दोषों

से ही समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। कोई दुःख ऐसा नहीं है जिसका कारण कोई दोष नहीं हो और दोष का कारण देह से सम्बन्धित इन्द्रिय, मन, बुद्धि के विषयों की सुखासक्ति एवं देहाभिमान है। देहाभिमान से देह के अंग, इन्द्रिय, मन और बुद्धि में जीवन-बुद्धि हो जाती है जो इनके विषयों के भोगजन्य सुख की आसक्ति में आबद्ध करती है। सुखासक्ति देहाभिमान को पुष्ट करती है। देह का सम्बन्ध शरीर के अंग, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वस्तु आदि नश्वर, परिवर्तनशील व जड़ पदार्थों से होने से, देहाभिमान अमरत्व से मृत्यु की ओर, चेतनता से जड़ता की ओर ले जाता है, अतः हमें अमरत्व को, पूर्ण चैतन्य को, तत्त्वबोध को प्राप्त करने की ओर गति करना है तो विवेकपूर्वक देहाभिमान का अन्त करना होगा। देहाभिमान का अन्त करने के लिए इन्द्रियों के विषयों के द्वारा जो सुख मिलता है, चित्त के चिन्तन द्वारा जो सुख मिलता है, स्थिरता अथवा जड़ता द्वारा जो सुख मिलता है, बुद्धि के अभिमान से जो सुख मिलता है, इन सुखों व अन्य समस्त सुखों की आसक्ति का त्याग करना होगा। सब प्रकार के सुख देहाभिमान के आधार पर ही भोगे जाते हैं, अतः जब तक जीवन में सुख-लोलुपता रहेगी, तब तक देहाभिमान का, काया में जीवन-बुद्धि का अन्त नहीं हो सकेगा। सुख-लोलुपता ने ही हमें देहाभिमान में आबद्ध किया है और देहाभिमान ने शारीरिक प्रवृत्ति, सुख-सामग्री व भोगों में प्रवृत्त किया है अर्थात् कर्म, कषाय व संसार से जोड़ा है।

सुख-लोलुपता का अन्त करने के लिए ही आत्म-निरीक्षण (स्वाध्याय) और धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान की साधना की जाती है। साधना से जैसे-जैसे सुख-लोलुपता मिटती जाती है, वैसे-वैसे देहाभिमान स्वतः गलता जाता है। देहाभिमान जितना गलता व घटता जाता है उतना ही भोग-प्रवृत्ति, सुख-सामग्री की संग्रह वृत्ति, कर्म-बन्धन, कषाय व संसार का सम्बन्ध टूटता जाता है। इनका व्युत्सर्ग होता जाता है। सर्वांश में देहाभिमान का त्याग हो जाने पर कर्म, कषाय, संसार, विषयासक्ति, संग्रह प्रवृत्ति का सर्वांश व्युत्सर्ग हो जाता है। कषाय के व्युत्सर्ग से घाति कर्मों का व संसार का व्युत्सर्ग हो जाता है अर्थात् कायोत्सर्ग की पूर्णता होते ही देहातीत, इन्द्रियातीत, लोकातीत अलौकिक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। बन्धनमुक्त होना ही मानव-जीवन की सार्थकता व सफलता है।

ध्यान और कायोत्सर्ग में एकता व भिन्नता

तप या निर्जरा तत्त्व के बारह भेदों में 'ध्यान' ग्यारहवाँ और कायोत्सर्ग बारहवाँ भेद हैं। जैनागमों में जहाँ भी तप का वर्णन आया है, उसमें सर्वत्र ध्यान और कायोत्सर्ग को अलग माना है, परन्तु वर्तमान जैन परम्परा में प्रायः ध्यान और कायोत्सर्ग को एक मान लिया है। प्रतिक्रमण के पाँचवें आवश्यक 'कायोत्सर्ग' को ध्यान का ही रूप दे दिया है।

गम्भीरता से विचार करने से ज्ञात होता है कि ध्यान और कायोत्सर्ग में महत्त्वपूर्ण अन्तर है : 'कायोत्सर्ग' तप व निर्जरा तत्त्व का चरमोत्कर्ष है। इसके आगे कुछ भी साधना करना शेष नहीं रहता है जबकि 'ध्यान' के पश्चात् कायोत्सर्ग होना आवश्यक है अर्थात् ध्यान का लय कायोत्सर्ग में होता है। कायोत्सर्ग साधना से साधक देहातीत होता है। देह, इन्द्रियाँ, मन, संसार व समस्त परिवर्तनशील लौकिक अवस्थाएँ एक ही जाति की हैं, अतः देहातीत होने से साधक इन सबसे अतीत अलौकिकता का अनुभव कर लेता है। जबकि ध्यान में अनुप्रेक्षा होने से चित्त (सूक्ष्म देह) का आश्रय रहता है।

ध्यान में चित्त किसी एक विषय पर स्थित होता है। कायोत्सर्ग में चित्त अध्यवसाय रहित निर्विकल्प हो जाता है, परन्तु ध्यान में चित्त से सम्बन्ध बना रहता है, ध्यान से चित्त शान्त होता जाता है, विकल्प घटते जाते हैं। इस प्रकार ध्यान से चित्त निर्विकल्प होने पर कायोत्सर्ग होता है। इस दृष्टि से 'ध्यान' कायोत्सर्ग का साधन है और कायोत्सर्ग साध्य है। ध्यान जितना सधता जाता है उतना ही देहाभिमान गलता जाता है, फिर ध्यान कायोत्सर्ग में विलीन (लय) हो जाता है। ध्यान में ध्याता रूप मैं (देहभाव-अहंभाव) विद्यमान रहता है, जिससे देहातीत अनुभूति नहीं होती है जबकि कायोत्सर्ग में मैं का व्युत्सर्ग हो जाता है अर्थात् शरीर, संसार, कर्म, कषाय का व्युत्सर्ग-विसर्जन हो जाता है जिससे देहातीत-लोकातीत स्वरूप का अनुभव हो जाता है। कर्मों की पूर्ण निर्जरा हो जाती है जिससे जीव कर्म-बन्ध रहित अर्थात् मुक्त हो जाता है।

ध्यान में, संकल्प या कामना की उत्पत्ति रुक जाने से नवीन कर्मों का बन्ध रुक जाता है और समता भाव से राग-द्वेष व संकल्प-विकल्प घटते जाते

हैं। चित्त की शान्ति बढ़ती जाती है जिससे निर्विकल्पता बढ़ती जाती है। निर्विकल्पता जितनी-जितनी बढ़ती जाती है, उतनी-उतनी चिन्मयता प्रकट होती जाती है। चिन्मयता-चेतनत्व बढ़ता जाता है, जड़ता टूटती जाती है, शरीर और संसार के प्रति ममत्व व तादात्म्य घटता जाता है। देहासक्ति-देहाभिमान गलता जाता है, देहातीत होने की क्षमता बढ़ती जाती है अर्थात् ध्यान कायोत्सर्ग में परिणत होता जाता है। इस प्रकार ध्यान-कायोत्सर्ग को पुष्ट करने की साधना है।

ध्यान में ध्याता और ध्येय का ज्ञान रहता है। मैं ध्याता हूँ, ध्यान कर रहा हूँ—यह कर्तृत्व भाव व अहंभाव (अभिमान) विद्यमान रहता है। जितना साधक ध्यान की गहराई में उतरता है, उतना ही कर्तृत्व एवं अहंभाव क्षीण होता जाता है, देह से अतीत अवस्था एवं वीतरागता की ओर बढ़ता जाता है और अन्त में पूर्ण अप्रयत्न हो जाता है। यह कायोत्सर्ग से प्राप्त अप्रयत्न अवस्था कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित कर, ज्ञाता-दृष्टा भाव से अतीत वीतराग कर देती है।

सारांश यह है कि कायोत्सर्ग वीतरागता व समाधि की अवस्था है और ध्यान इसे प्राप्त करने की साधना है। इस प्रकार कायोत्सर्ग व समाधि साध्य हैं और ध्यान कायोत्सर्ग के उपलब्ध करने की साधना है। यह ही इनमें अन्तर है। प्रकारान्तर से कहें तो ध्यान कारण है और कायोत्सर्ग उसका कार्य है। अतः ध्यान के बिना कायोत्सर्ग सम्भव नहीं है। कायोत्सर्ग में ध्यान विलीन होता है। अतः कायोत्सर्ग के वर्णन में ध्यान का वर्णन आना सम्भव है। इसे पुनरावृत्ति नहीं समझा जाना चाहिए। कायोत्सर्ग कर्म-निर्जरा की साधना में ध्यान से ऊपर की सीढ़ी है। ऊपर की सीढ़ी नीचे की सीढ़ी पर टिकी (ठहरी) होती है। इसलिये ध्यान से भले ही कायोत्सर्ग के सर्वांश का बोध नहीं हो, कायोत्सर्ग में ध्यान का चरम शुद्ध रूप समाहित रहता है, अतः कायोत्सर्ग के साधक को ध्यान का जानना आवश्यक नहीं है, किन्तु ध्यान के साधक के लिए ध्यानोत्तर अवस्था का जानना अपेक्षित है। जिस प्रकार ध्यान के लिए अनित्य, अशरण आदि का स्वाध्याय आलम्बन रूप है उसी प्रकार 'ध्यान' कायोत्सर्ग का आलम्बन है, परन्तु जैसे स्वाध्याय से ध्यान अलग है उसी प्रकार ध्यान से कायोत्सर्ग अलग है।

ध्यान और कायोत्सर्ग, दोनों से पापकर्मों की निर्जरा होती है। इस दृष्टि से ध्यान और कायोत्सर्ग में एकता है, परन्तु जैन धर्म में साधना का चरम लक्ष्य निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना है, जिसमें जीव का शरीर, संसार, कर्म और कषाय आदि समस्त लौकिक पदार्थों से सर्वांश में सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् साधक इनका व्युत्सर्ग कर देता है। ध्यान और कायोत्सर्ग में महत्त्वपूर्ण अन्तर है : ध्यान में चित्त किसी विषय पर एकाग्र व सजग होता है;

कायोत्सर्ग में चित्त निर्विकल्प होता है जिससे चिन्मयता का अनुभव होता है। ध्यान में चित्त का आश्रय रहता है जबकि कायोत्सर्ग सर्वांश में आश्रय से रहित होता है। आश्रय रहते हुए संसार व शरीर से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। कायोत्सर्ग से सर्वांश में आश्रय रहित होने पर ही देह, इन्द्रिय, लोक-संसार आदि से अतीत अवस्था सम्भव है अर्थात् देहातीत, इन्द्रियातीत, लोकातीत (अलौकिक) निज स्वरूप में स्थिति सम्भव है। यह ही मुक्त अवस्था है। आज तक कोई भी मुक्त हुआ वह कायोत्सर्ग, व्युत्सर्ग से ही हुआ है।

ध्यान और कायोत्सर्ग में भेद इस प्रकार है, यथा :

ध्यान में विरक्ति होती है, कायोत्सर्ग में वीतरागता होती है।

ध्यान कारण है और कायोत्सर्ग उसका कार्य है।

ध्यान में निज अविनाशी स्वरूप का चिन्तन होता है, कायोत्सर्ग में निज स्वरूप का अनुभव होता है।

ध्यान की सिद्धि से कायोत्सर्ग होता है, अतः ध्यान साधन है और कायोत्सर्ग साध्य। साधन को साध्य मान लेना साधन में अटक जाना है, साध्य से वंचित रहना है।

कायोत्सर्ग : ध्यान की पूर्णता

ध्यान में चित्त स्थिर, एकाग्र होता है।[1] मन के एकाग्र होने से चित्त का निरोध होता है।[2] चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है।[3] योग की पराकाष्ठा समाधि है। समाधि की उपलब्धि संयम, तप व व्यवदान से होती है। संयम से आस्रव का निरोध होता है।[4] आस्रव के निरोध से नवीन कर्मों का बन्ध रुकता है।[5] तप से व्यवदान होता है। व्यवदान से साधक अक्रियता प्राप्त करता है। अक्रिया युत होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है, परम शान्ति को प्राप्त होकर सर्वदुःखों का अन्त कर देता है।[6]

देह के आश्रय रहते कायोत्सर्ग, देहातीत होना सम्भव नहीं है। कायोत्सर्ग या देहातीत होने के लिए देह के आश्रय से ऊपर उठना होता है। जो तन, वचन और मन, इन तीनों की अक्रियता से ही सम्भव है। (जैसा कि कायोत्सर्ग के पाठ में कहा है।) कारण कि क्रिया मन, वचन व काया से होती है। क्रिया कोई भी हो, वह हलचल, चंचलता तथा अस्थिरता उत्पन्न करती है। कायोत्सर्ग में काया, वचन व मन की क्रिया का निरोध कर इन्हें निश्चल व स्थिर किया जाता है जैसा कि कायोत्सर्ग करने के पाठ 'तस्स उत्तरी करणेणं' के अन्त में कहा गया है–

ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि

अर्थात् जब तक मैं कायोत्सर्ग करता हूँ तब तक काया को स्थिर, वचन से मौन और मन को ध्यानस्थ-आत्मस्थ रखूँगा। अर्थात् काया, वचन तथा मन से कोई भी क्रिया नहीं करूँगा। जैसा कि ध्यानाध्ययन (ध्यान शतक) ग्रन्थ में, षट्खण्डागम की धवला टीका, पुस्तक 13 में तथा आदि पुराण में कहा है –

1. ध्यान-शतक, गाथा - 2
2. उत्तराध्ययन, अ. 29, सूत्र 25
3. पतंजलि योग, 1-2
4. उत्तराध्ययन, अ. 29, सूत्र 27
5. उत्तराध्ययन, अ. 29, सूत्र 27
6. उत्तराध्ययन, अ. 29, सूत्र 29

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता।।

—गाथा 2, ध्यानाध्ययन, धवला टीका, पुस्तक 13, गाथा 12

स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं येच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव।।

—आदिपुराण, 21-9

अर्थ—जो स्थिर अध्यवसान (मन) है, वह ध्यान है। इसके विपरीत जो चंचल (अस्थिर) चित्त है, उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है। ये सब मन की प्रवृत्तियाँ या क्रियाएँ हैं, अतः इन्हें ध्यान नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि जहाँ क्रिया व कर्तृत्व है वहाँ कायोत्सर्ग नहीं है।

ध्यान में काया, वचन और मन से प्रवृत्ति या क्रिया करने का निषेध 'द्रव्य संग्रह' में स्पष्ट शब्दों में किया है—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।।

—द्रव्य संग्रह, 56

अर्थ—हे साधुओ! तुम काया से कुछ भी चेष्टा मत करो, वचन से भी कुछ मत कहो और मन से कुछ भी चिन्तन मत करो; जिससे आत्मा आत्मा ही में स्थिर होता हुआ रमण करे, यही परम ध्यान है।

ध्यान में किसी विशेष आसन, स्थान, समय आदि का महत्त्व नहीं है, महत्त्व मन-वचन-काया के योगों के समाधान (स्वस्थता) का है, यथा—

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा।।
तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा (प) यइयव्वं।।

—ध्यान शतक, 40-41

अर्थ—मुनियों ने सभी देश (स्थान), काल और चेष्टा की अवस्था में अवस्थित रहते हुए अनेक प्रकार के पापों को नष्टकर सर्वोत्तम केवलज्ञान आदि को प्राप्त किया है, अतः ध्यान के लिए आगम में किसी विशेष देश, काल, चेष्टा, आसन आदि के होने का नियम नहीं कहा है; किन्तु जिस प्रकार से भी योगों का—मन, वचन, काया का समाधान (स्वस्थता स्थिरता, निर्विकारता) हो, उसी प्रकार का यत्न करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि कायोत्सर्ग में मन, वचन और काया की किसी भी प्रकार की हलचल, चंचलता, प्रवृत्ति या क्रिया से रहित होना है। यहाँ तक कि शरीर में स्वतः होने वाली स्वाभाविक क्रियाओं—उच्छ्वास, निःश्वास, खाँसी, छींक, जम्भाई और डकार का आना, अधोवायु का निकलना, चक्कर आना, अंगों का, कफ का, दृष्टि का स्वतः सूक्ष्म संचालन होना आदि को भी कायोत्सर्ग के पाठ में आगार के रूप में स्वीकार किया है। स्वयं की ओर से शरीर को किसी भी क्रिया करने की, हाथ-पैर हिलाने, आसन बदलने आदि की छूट भी (आगार) नहीं है। तब वचन व मन की क्रिया की छूट कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।

बौद्ध धर्म में प्रतिपादित 'विपश्यना-अनुपश्यना' ध्यान के प्रतिपादक मुख्य ग्रन्थ 'महासतिपट्ठानसुत्त' में वेदनानुपश्यना, चित्त अनुपश्यना, धर्म अनुपश्यना आदि प्रत्येक अनुपश्यना के साथ एक सूत्र दिया गया है। यथा -

"यावदेव ञाणमत्ताय पटिस्सतिमत्ताय, अनिसित्तो च विहरति न च किञ्चि लोके उपादियति।"

(अनुपश्यना में) जब तक मात्र ज्ञान, मात्र दर्शन बना रहता है तब तक अनाश्रित होकर विहार करता है और लोक (शरीर और संसार) में कुछ भी ग्रहण नहीं करता है। भिक्षुओ! इस प्रकार भिक्षु अनुपश्यना में अनुपश्यी होकर विहार करता है।

इस प्रकार महासतिपट्ठानसुत्त में अनुपश्यी साधक के लिए किसी भी अनुपश्यना में लोक, शरीर और संसार के आश्रय ग्रहण करने तथा क्रिया करने का निषेध है, यहाँ तक कि वेदना, चित्त, धर्म आदि अनुपश्यना में जो स्वतः हो रहा है उसका केवल ज्ञाता-द्रष्टा होता है, क्योंकि कोई भी क्रिया लोक का आश्रय लिए बिना नहीं होती है अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि लौकिक आश्रय लेने से ही होती है और अनुपश्यना (विपश्यना) में लोक का किंचित् भी आश्रय ग्रहण न करने का विधान है। 'महासतिपट्ठानसुत्त' में ध्यान-साधक के लिए सिर से पैर तक पूरे शरीर के प्रत्येक अंग-उपांग पर उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं को देखने एवं उनके अनित्य होने का चिन्तन करने का भी विधान नहीं है। वे ध्यान से पूर्व की आत्म-निरीक्षण की अर्थात् स्वाध्याय की क्रियाएँ हैं। कारण कि संवेदनाओं को देखना और उनके अनित्य स्वभाव का चिन्तन मन-बुद्धि की क्रिया से ही सम्भव है, क्योंकि कोई भी क्रिया बिना आश्रय के नहीं होती है। कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग में शरीर, संसार, कषाय और कर्म—इन सबका व्युत्सर्ग आवश्यक है अर्थात् इनसे असंग होना, इनके आश्रय का त्याग करना आवश्यक बताया है।

पातंजल योग सूत्र में कहा है–

योगाश्चित्तवृत्ति निरोधः।1-2

चित्त की वृत्तियों का निरोध होना योग है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ 'करना' है वहाँ क्रिया है, जहाँ क्रिया है वहाँ कर्म है। अतः ध्यान-साधना में अपनी ओर से कुछ भी करने का निषेध है। ध्यान-साधना में करना 'होने' में बदल जाता है जिससे शरीर व चित्त आदि के स्तर पर जो भी घटनाएँ घटती हैं, संवेदनाएँ आदि प्रकट होती हैं वे साधक को मात्र दिखती हैं, उनका मात्र दर्शन-ज्ञान होता है, वह प्रयत्नपूर्वक 'देखता' नहीं है। जैसे हम रेल में यात्रा कर रहे होते हैं उस समय बाहर की वस्तुएँ दिखाई देती हैं, उन्हें देखने व जानने की क्रिया नहीं करनी पड़ती है। वे अपने-आप दिखती हैं उन्हें देखने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रयत्न में काया का आश्रय लेना पड़ता है। काया का आश्रय रहते कायोत्सर्ग कदापि सम्भव नहीं है।

पूर्व में कह आए हैं कि चित्त का निश्चल-स्थिर होना ध्यान है। चिन्तन, मनन, अनुप्रेक्षा, भावना, संकल्प, विकल्प आदि से चित्त सक्रिय-अस्थिर रहता है, निश्चल नहीं होता है, अतः तब तक ध्यान नहीं होता। इन सबसे परे होने पर ही चित्त शान्त व स्थिर होता है। इसे ही समाधि कहा गया है। प्रकारान्तर से कहें तो निर्विकल्प-स्वसंवेदन, चैतन्य रूप दर्शनोपयोग ध्यान है। दर्शन रूप होने से ध्यान को अनुपश्यना व विपश्यना कहा जाता है। अनुपश्यना-विपश्यना शब्द 'पश्य' क्रिया से बने हैं। 'पश्य' शब्द दृश् (दर्शने) धातु से बना है। अतः ध्यान दर्शनमय होता है। दर्शन निर्विकल्प, स्वसंवेदन रूप होता है। जैसा कि ध्यान का वर्णन करते हुए तत्त्वानुशासन में कहा है–

तत्राऽऽत्मन्यासहाये यच्चिन्तायाः स्यान्निरोधनम्।
तद्ध्यानं तद्भावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः।।65।।

अर्थ–किसी भी सहायता (आश्रय) से रहित आत्मा में जो चिन्ता का निरोध है, वह ध्यान है अथवा जो चिन्ता के अभाव व स्वसंवेदन रूप है, वह ध्यान है।

पाहुडदोहा में कहा है–

जिमि लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिमि जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हवइ जीवड़ा काइं समाहि करिज्ज।।

–पाहुडदोहा, 176

जिस प्रकार नमक पानी में विलीन होकर समरस हो जाता है उसी प्रकार यदि चित्त आत्मा में विलीन होकर समरस हो जाये तो फिर जीव को समाधि में और क्या करना है? अर्थात् चित्त का बाह्य विषयों से विमुख हो, आत्म-स्वरूप में लीन होना ही समाधि है, ध्यान है।

श्री जिनसेनाचार्य कहते हैं :

योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तः निग्रहः।
अंतः संलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः।।

21-22 आर्ष

अर्थ—योग, समाधि, बुद्धि-निरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्तःसंलीनता—ये ध्यान के पर्यायवाची हैं। योग अर्थात् चित्त का निरोध, समाधि—चित्त की स्थिरता, धी निरोध—बुद्धि से चिन्तनरहित होना, स्वान्तः निग्रह—अपने अन्तःस्थल में स्थिर होना, अन्तः संलीनता—अपने अन्तःकरण में संलीन होना ध्यान है अर्थात् मन, चित्त, बुद्धि और अहं का निरोध-निग्रह होना ध्यान है।

तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्ययन में धर्म-ध्यान के भेदों में आए 'विचय' शब्द की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि टीकाओं में 'विचयो विवेको विचारणेत्यनर्थान्तरम्' कहा है अर्थात् विचय, विवेक और विचारणा, ये समानार्थक हैं। चिन्तन करने से ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में विचारण शब्द का प्रयोग विचरण व आचरण—अनुभव करने के अर्थ में होता था। वर्तमान में भी विचरण शब्द का प्रयोग विहार करने के अर्थ में होता है। बौद्ध धर्म में ध्यान के प्रमुख ग्रन्थ महासतिपट्ठान में सर्वत्र अनुपश्यी (ध्यान-साधक) के साथ विहरति (अनुपस्सी विहरति) शब्द आता है, जहाँ पर विहार शब्द का अर्थ 'यथाभूत तथागत' है, अर्थात् 'यथार्थ में जैसा हो रहा है उसे वैसा ही अनुभव करना है।' इसी आशय से धर्म-ध्यान के चारों भेदों के साथ प्रयुक्त विचय शब्द का अर्थ—विचरण-आचरण रूप अनुभव करना उपयुक्त लगता है। विचरण, चिन्तन आदि अर्थ ध्यान के लक्षण 'थिरमज्झ-वसाणं-स्थिर अध्यवसान' के बाधक होने से असंगत लगते हैं। अतः विचय का अर्थ है—'यथाभूत तथागत' अर्थात् ध्यान में जैसा अनुभव के रूप में प्रकट हो रहा है उसे यथार्थ रूप में वैसा ही देखना, उसके प्रति राग-द्वेष न करना, उसका समर्थन व विरोध न करना, उससे असंग रहना। असंग रहना ही व्युत्सर्ग है। इसी अर्थ में धर्म-ध्यान के भेदों का विवेचन किया जा रहा है।

ध्यान की उपर्युक्त परिभाषा तथा व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में धर्म-ध्यान के चार भेद आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय में विचय

शब्द का अर्थ विचार व चिन्तन करना उपयुक्त नहीं लगता है, कारण कि चिन्तन या विचारना में चित्त ऊहापोह व विकल्पयुक्त होता है, ज्ञानोपयोगमय होता है, निर्विकल्प व स्वसंवेदन रूप नहीं होता है। अतः यहाँ विचय शब्द का अर्थ विचार करना नहीं होकर विचरण करना, संवेदन व अनुभव करना अधिक उपयुक्त लगता है। यथा–

आज्ञाविचय–आज्ञा अर्थात् सत्य का, श्रुतज्ञान का, अपने अनादि, अविनाशी स्वभाव का, शरीर से आत्मा की भिन्नता का जैसा स्वरूप प्रकट हो रहा है, वैसा ही अनुभव होना आज्ञाविचय है। यह शरीर व्युत्सर्ग कायोत्सर्ग है।

अपायविचय–राग, द्वेष, मोह आदि त्याज्य अपाय, दोषों को, कषायों को जैसे वे प्रकट हो रहे हैं, उन्हें वैसा ही अनुभव करना, उनका समर्थन व विरोध न करना, असंगतापूर्वक अनुभव करना अपायविचय है। यह कषाय-व्युत्सर्ग है।

विपाकविचय–अपाय का, दोषों का, कर्मों का विपाक-उदय व फल जैसा प्रकट हो रहा है उसे उसी रूप में समता व असंगतापूर्वक अनुभव करना विपाकविचय है, यह कर्म-व्युत्सर्ग है।

संस्थानविचय–संसार या लोक के स्वरूप का अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति-भंग (विनाश) के चक्र रूप प्रवाह का असगंतापूर्वक अनुभव करना संस्थानविचय है, यह संसार व्युत्सर्ग है।

व्युत्सर्ग–अपने में देह की और देह में अपनी स्थापना करने से प्राणी को निज स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। देह में अपनी स्थापना करने से 'मैं देह हूँ' रूप अहंभाव (देहाभिमान) उत्पन्न होता है। इसका परिणाम यह होता है कि देह की सत्यता (स्थायित्व) भासित होने लगती है और अपने में देह की स्थापना करने से देह में ममता (आसक्ति) उत्पन्न हो जाती है, जिससे देह सुन्दर तथा सुखद लगने लगती है। इस प्रकार देह से अभेदभाव के सम्बन्ध से अहम् (मान) और भेदभाव के सम्बन्ध से 'मम' (माया) उत्पन्न होता है।

अहम् और मम भाव से कामना की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त कुपित-क्षोभित (अशान्त) हो जाता है और कामना की पूर्ति में सुख का और अपूर्ति में दुःख का भास होने लगता है। सुख की दासता और दुःख के भय से प्राणी निज अविनाशी (अनन्त) स्वरूप से विमुख हो जाता है अर्थात् विभाव में आबद्ध और स्वभाव से च्युत हो जाता है। यद्यपि अविनाशी निज स्वरूप सदैव विद्यमान है, उससे देशकाल की दूरी नहीं है, फिर भी प्राणी उसे कठिन मानकर उससे

निराश होने लगता है और देह, दृश्यमान वस्तुएँ, जिनसे मानी हुई एकता है, वास्तविक नहीं, उनके प्रति आशान्वित, लालायित एवं प्रयत्नशील रहता है। यह प्राणी का घोर प्रमाद है।

प्राणी ने देहादि दृश्यमान वस्तुओं से सम्बन्ध कब और क्यों स्वीकार किया, इसका तो पता नहीं चलता है, परन्तु वस्तुओं से सम्बन्ध वर्तमान में ही विच्छिन्न होना सम्भव है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे स्वीकार करने से ही देहादि वस्तुओं से सम्बन्ध हुआ है। अतः प्रत्येक सम्बन्ध स्वीकृति मात्र से उत्पन्न होता है और अस्वीकृति मात्र से उसका सम्बन्ध नाश हो जाता है। **ऐसी कोई स्वीकृति है ही नहीं जो अस्वीकृति से न मिट जाय। कोई भी स्वीकृतिजन्य सम्बन्ध ऐसा नहीं है जो अस्वीकृति के अतिरिक्त अन्य किसी अभ्यास, प्रयास से मिट जाय।** इस दृष्टि से देहादि से अनन्तकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है, वर्तमान में उसका विच्छेद-व्युत्सर्ग हो सकता है।

देह व दृश्यमान वस्तुओं (शरीर-संसार-लोक) से व्युत्सर्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही अहम् और मम का नाश हो जाता है। अहम् का नाश होते ही निरहंकार होने से अनन्त से एकता तथा अभिन्नता हो जाती है जिससे अविनाशी अनन्त तत्त्व—अमरत्व की अनुभूति हो जाती है। मम का नाश होते ही सब विकारों का नाश होकर निर्विकार, वीतराग, शुद्ध चैतन्य (सच्चिदानन्द) स्वरूप का अनुभव हो जाता है। इस प्रकार ध्यान व व्युत्सर्ग से सब पापों (विकारों) का नाश होकर आत्मा विशुद्ध एवं सर्वशल्यों से मुक्त हो जाती है, अर्थात् ध्यान से ध्याता को ध्येय की उपलब्धि हो जाती है।

जिज्ञासा होती है कि क्या शरीर, इन्द्रिय, संसार, वस्तु तथा इनकी सक्रियता के बिना भी जीवन है? यदि जीवन है तो वह जीवन कैसा है?

समाधान—यह सभी का अनुभव है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि की क्रियाओं, प्रवृत्तियों व विषयों का निरोध होने पर ही गहरी निद्रा आती है। उस समय इन सबकी समृति व सम्बन्ध नहीं रहता है। उस अवस्था में दुःख का अनुभव नहीं होता है। परन्तु जगने पर व्यक्ति यह ही कहता है कि मैं बहुत सुख से सोया। यह नियम है कि स्मृति उसी की होती है, जिसकी अनुभूति होती है। गहरी निद्रा में किंचित् भी दुःख नहीं था, मात्र सुख ही था। इस अनुभूति से यह सिद्ध होता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, संसार, वस्तु आदि के बिना भी, इनके न रहने पर भी दुःखरहित सुखपूर्वक जीवन का अनुभव सम्भव है। किन्तु यह जड़तापूर्ण स्थिति है। अतः इस अनुभव का आदर न करने से ही प्राणी शरीर, संसार, वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होता है और इनकी दासता को

बनाये रखता है। यदि जाग्रत अवस्था में भी गहरी निद्रा के विश्राम के समान स्थिति प्राप्त कर ली जाय तो यह स्पष्ट अनुभव हो जायेगा कि शरीर, संसार आदि की क्रिया के बिना भी जीवन है और उस जीवन में किसी प्रकार का अभाव, अशान्ति, पराधीनता, जड़ता, चिन्ता, भय तथा दुःख नहीं है। अतः शरीर, संसार व भोग के सुख के बिना जीवन नहीं है—इस भ्रान्ति को त्यागकर शरीर, संसार, कषाय (भोग-प्रवृत्ति) व कर्म का व्युत्सर्ग-विसर्जन कर शान्ति, स्वाधीनता, चिन्मयता, निश्चिन्तता, निर्भयता, प्रसन्नता, अमरता की अनुभूति कर लेना साधक के लिए अनिवार्य है। यही सिद्ध, बुद्ध व मुक्त होना है।

"मैं देह हूँ"—इस मान्यता के दृढ़ होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में भी 'मैं' की मान्यता हो जाती है, जो समस्त दोषों की जननी है। कारण कि जब इन्द्रिय और मन का अपने विषयों से सम्बन्ध होता है तब शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श से सम्बन्धित मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के प्रभाव से मनोज्ञ विषयों के प्रति राग और अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। रागोत्पत्ति से इन्द्रियाँ विषयों की ओर, मन इन्द्रियों की ओर, बुद्धि मन की ओर गति करने लगते हैं। इस प्रकार बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ—सबकी संसार या बाह्य की ओर गति होने लगती है, और हम बहिर्मुखी हो जाते हैं तथा कामना, ममता, अहंता में आबद्ध होकर सुख-दुःख का भोग करने लगते हैं।

इस प्रकार इन्द्रिय-दृष्टि से समस्त विषय सुन्दर, सुखद व सत्य (स्थायी, नित्य) प्रतीत होते हैं। इस इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मन पर होता है तब मन इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों की ओर गतिशील होता है। परन्तु जब मन पर श्रुतज्ञान युक्त बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव होता है तब इन्द्रिय-दृष्टिजनित विषय सुन्दर, सुखद व सत्य है—यह प्रभाव मिटने लगता है। क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान से जो वस्तु सत्य, स्थायी व सुन्दर मालूम होती है वह ही वस्तु श्रुतज्ञान से, विवेकवती बुद्धि से नश्वर तथा विध्वंसनशील, जीर्ण-शीर्ण, गलन रूप मालूम होती है। इस ज्ञान से विषय व वस्तु के प्रति विरति (वैराग्य-अरुचि) होती है और मन विषयों से विमुख होने लगता है। इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो स्वतः मन में विलीन हो जाती हैं। मन बुद्धि में विलीन हो जाता है फिर बुद्धि सम हो जाती है। उस समता में स्थित आत्मा सब मान्यताओं से अतीत हो जाता है जिससे सब प्रकार के प्रभावों की अर्थात् भोग, कामनाओं, वासनाओं आदि दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

इन्द्रिय-दृष्टि से विषय-वस्तुओं में सत्यता प्रतीत होती है। उसका प्रभाव राग उत्पन्न करता है। राग भोग में प्रवृत्त करता है, किन्तु विवेक-दृष्टि

(श्रुतज्ञान) विषय-सुखों की क्षण-भंगुरता का ज्ञान कराती है, जिससे राग वैराग्य में और भोग योग (संयम) में रूपान्तरित हो जाता है व इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्रष्टा में विषय-सुखों से, सब मान्यताओं से अतीत होने—इनके रागजनित प्रभावों से मुक्त होने की क्षमता आ जाती है। जिससे शरीर व शरीर से सम्बन्धित गण, उपधि आदि से व्युत्सर्ग हो जाता है। **विषय सुखों के प्रभाव से मुक्त होने पर कषाय-विसर्जन (व्युत्सर्ग), कषाय-व्युत्सर्ग से कर्म-व्युत्सर्ग और कर्म-व्युत्सर्ग से संसार-व्युत्सर्ग स्वतः हो जाता है। आचारांग सूत्र की भाषा में कहें तो "जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयं पासगस्स दंसणं उवरय-सत्थस्स पलियंत करस्स आयाणं निसिद्धा सगडस्मि किमत्थि ओवाही पासगस्स न विज्जइ। णत्थि त्तिवेमि।** (आचारांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन 3, उद्देशक 4 सूत्र)

अर्थात् जो क्रोध को देखता है वह मान को देखता है, जो मान को देखता है वह माया को देखता है; इस प्रकार क्रमशः माया से लोभ को, लोभ से राग को, राग से द्वेष को, द्वेष से मोह को, मोह से गर्भ को, गर्भ से जन्म को, जन्म से मार को, मार से नरक को, नरक से तिर्यंच को, तिर्यंच से दुःख को देखता है। इस प्रकार मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, गर्भ, मार, नरक, तिर्यंच और दुःख का दर्शन करता है। यह शस्त्र-उपरत द्रष्टा का दर्शन है जो कर्म से उपरत करता है।

आशय यह है कि व्युत्सर्ग की कोई प्रक्रिया नहीं होती, परन्तु ध्यान की पात्रता प्राप्त करने के लिए जैन दर्शन में अणुव्रत महाव्रत का पालन, पातञ्जल योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि, बौद्ध दर्शन में शील और जैन दर्शन में विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय आदि सद्प्रवृत्तियों का आचरण अपेक्षित है।

कायोत्सर्ग और अमनस्क साधना
(कायोत्सर्ग मन को अमन बनाने की साधना)

जैन दर्शन में कायोत्सर्ग का विधान है–"तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सगं.....ताव कायं ठाणेणं, मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।" (आवश्यक सूत्र)

अर्थात् उस (आत्मा) के उत्थान के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्म-विशुद्धि करने के लिए, शल्य, ममता व फलाकांक्षा से रहित होने के लिए, पापकर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ। इसमें साधक को कायोत्सर्ग के ध्येय (फल व साध्य) के विषय में बताया गया है। इसके पश्चात् इसके करने की विधि बताई गई है जिसमें काया से स्थित रहना, वचन से मौन रहना और मन से ध्यानस्थ (स्थिर) रहना कहा है अर्थात् मन, वचन, काया से कोई प्रवृत्ति न करके ममत्व-अहंभाव या 'मैं' से रहित होना अर्थात् काया से असंग व अतीत होना कायोत्सर्ग है।

जब तक 'मैं' हूँ–इस रूप में अपनाभास है, तब तक देहाध्यास है, देह से तादात्म्य है, क्योंकि मैं या अपनापन का भान होता ही तब है, जब चेतन अचेतन पदार्थ से जुड़ता है। प्रकारान्तर से कहें तो मैं या अहं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मैं का सृजन होता है, जब शुद्ध चेतन तत्त्व अचेतन पदार्थ से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और मैं का भास तब होता है जब मन, वचन, तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति व प्रयत्न किया जाता है। प्रयत्न में अहंभाव-अहंकृति रहती है, जिससे मैं का भास होता है। अतः कायोत्सर्ग अर्थात् देहाभिमान से रहित होने के लिए अप्रयत्न होना आवश्यक है। परन्तु मन, वचन, काया की प्रवृत्ति न करने के लिए (इनसे अप्रयत्न होने के लिए) प्रयत्न करना होता है। यह अप्रयत्न होने के लिए किया गया प्रयत्न भी प्रयत्न ही है। अप्रयत्न होने के लिए किया गया यह प्रयत्न अतिसूक्ष्म व महान् प्रयत्न है। यह प्रयत्न, अप्रयत्न के रूप में प्रकट होता है। मन, वचन, काया के अप्रयत्न होने से, विश्रान्त होने से जो निर्विकल्प अवस्था होती है जिसमें (व्यक्त रूप में) अहंभाव, देहभाव नहीं रहता है। अतः

यह भी कायोत्सर्ग है, परन्तु इसमें अव्यक्त (सत्त्व) रूप में अहंभाव का संस्कार रहता है।

जैन दर्शन में इस अवस्था को उपशान्त मोहनीय यथाख्यात चारित्र कहा है। यह यथाख्यात अवस्था भेद-विज्ञान के अनुभव से होती है। पातंजल योग दर्शन में भेद-विज्ञान को विवेक और उसके अनुभव को 'ख्याति' कहा है। विवेक-ख्याति का फल संप्रज्ञात समाधि है। इसमें मैं अप्रयत्न हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ, इस प्रकार के अहं के ज्ञान का सूक्ष्म संस्कार अव्यक्त रूप में रहता है, जिसका कुछ काल के पश्चात् व्युत्थान (उदय) हो जाता है। इस अवस्था में मैं ज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ, यह भाव रहता है, परन्तु जब अप्रयत्न अवस्था दृढ़ हो जाती है और स्वभाविक हो जाती है तब वह सदा के लिए हो जाती है। फिर अहंभाव का सदा के लिए विसर्जन हो जाता है। अहं से अचेतन का सम्बन्ध-विच्छेद होने से, असंग हो जाने से अहं 'है' में लीन हो जाता है। फिर साधक शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, संसार आदि से अतीत हो जाता है। उसका इनसे कुछ भी सम्बन्ध शेष नहीं रहता है जिससे कुछ प्राप्य, कर्तव्य, ज्ञेय, दृश्य शेष नहीं रहता है। प्राप्य शेष न रहने से भोक्तृत्व भाव, कर्तव्य शेष न रहने से कर्तृत्व भाव शेष नहीं रहता है। ज्ञेय शेष न रहने से ज्ञाता भाव शेष नहीं रहता है—केवल ज्ञान रह जाता है। देखना शेष न रहने से दृश्य और द्रष्टा शेष नहीं रहता है, केवल दर्शन रहता है। यह असंप्रज्ञात समाधि है। कायोत्सर्ग की चरम स्थिति है। यही कैवल्य है।

कायोत्सर्ग और अमनस्कता

कैवल्य की विभूति या अनुभूति के लिए कायोत्सर्ग-साधना आवश्यक है। जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरि (11-12वीं शती) ने 'योग-शास्त्र' ग्रन्थ में ध्यान से सम्बन्धित ग्यारह प्रकरणों में विवेचन करने के पश्चात् अन्तिम प्रकरण 'द्वादश प्रकाश' में कायोत्सर्ग का अमनस्क (उन्मनी) साधना के रूप में निरूपण किया है। यह कायोत्सर्ग साधक के लिए महत्त्वपूर्ण, उपयोगी होने से संक्षेप में यहाँ देते हैं; यथा—

श्रुतसिन्धोर्गुरुमुखतो यदधिगतं तदिह दर्शितं सम्यक्।
अनुभवसिद्धमिदानीं प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम्॥

श्रुत रूपी समुद्र से और गुरु के मुख से योग के विषय में मैंने जो जाना था, यहाँ तक वह सम्यक् प्रकार से दिखलाया है। अब अनुभव से सिद्ध निर्मल तत्त्व को प्रकाशित करूँगा।

बाह्यात्मानमपास्य प्रसक्तिभाजान्तरात्मना योगी।
सततं परमात्मानं विचिन्तयेत्तन्मयत्वाय॥

योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।

बहिरात्मा-अन्तरात्मा

आत्मधिया समुपात्तः कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।
कायादेः समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मा तु।।

शरीर आदि बाह्य पदार्थों को आत्म-बुद्धि से ग्रहण करने वाला अर्थात् शरीर, धन, कुटुम्ब, परिवार आदि में अहम्-बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा कहलाता है और जो शरीर आदि को आत्मा तो नहीं समझता, किन्तु अपने को उनका अधिष्ठाता समझता है, वह 'अन्तरात्मा' कहलाता है। बहिरात्मा जीव शरीर, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा—अपना स्वरूप मानता है, जबकि अन्तरात्मा शरीर और आत्मा को भिन्न समझता हुआ यही मानता है कि मैं शरीर में रहता हूँ, शरीर का संचालक हूँ।

परमात्मा

चिद्रूपानन्दमयो निःशेषोपाधिवर्जितः शुद्धः।
अत्यक्षोऽनन्तगुणः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः।।

चिन्मय, आनन्दमय, समग्र उपाधियों से रहित, इन्द्रियों से अगोचर और अनन्त गुणों से युक्त आत्मा परमात्मा कहलाता है।

सिद्धि प्राप्ति का उपाय

पृथगात्मानं कायात्पृथक् च विद्यात्सदात्मनः कायम्।
उभयोर्भेद - ज्ञातात्म - निश्चये न स्खलेद्योगी।।

शरीर से आत्मा को और आत्मा से शरीर को भिन्न जानना चाहिए। इस प्रकार दोनों के भेद को जानने वाला योगी आत्मस्वरूप को प्रकट करने में स्खलित नहीं होता।

अन्तःपिहित-ज्योतिः सन्तुष्यत्यात्मनोऽन्यतो मूढः।
तुष्यत्यात्मन्येव हि बहिर्निवृत्तभ्रमो योगी।।

जिसकी आत्म-ज्योति कर्मों से आच्छादित हो गई है, वह मूढ़ पुरुष आत्मा से भिन्न बाह्य पदार्थों में सन्तोष पाता है, किन्तु योगी, जो बाह्य पदार्थों में सुख की भ्रान्ति से निवृत्त हो चुका है, अपनी आत्मा में ही सन्तोष प्राप्त करता है।

पुंसामयत्नलभ्यं ज्ञानवतामव्ययं पदं नूनम।
यद्यात्मन्यात्मज्ञानमात्रमेते समीहन्ते।।

प्रबुद्ध पुरुष निश्चय ही बिना किसी बाह्य प्रयत्न के भी अव्यय–निर्वाण पद का अधिकारी हो सकता है। यदि वह आत्मा में आत्मज्ञान की ही अभिलाषा रखता है और आत्मा के सिवाय किसी भी अन्य पदार्थ सम्बन्धी विचार या व्यवहार नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि पूर्ण आत्मनिष्ठ हो जाता है तो उसे मुक्ति के लिए अन्य कोई बाह्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

श्रयते सुवर्णभावं सिद्धरसस्पर्शतो यथा लोहम्।
आत्मध्यानादात्मा परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति।।

जैसे सिद्धरस–रसायन के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाता है।

प्राणायाम-प्रभृति-क्लेश-परित्यागतस्ततो योगी।
उपदेशं प्राप्य गुरोरात्माभ्यासे रतिं कुर्यात्।।

प्राणायाम आदि कष्टकर उपायों का परित्याग करके योगी को गुरु का उपदेश प्राप्त कर आत्म-साधना में ही संलग्न रहना चाहिए।

औदासीन्य-परायण-वृत्तिः किञ्चिदपि चिन्तयेन्नैव।
यत्संकल्पाकुलितं चित्तं नासादयेत् स्थैर्यम्।।

योगी को चाहिए कि वह अपनी वृत्ति को उदासीनतामय बना ले और किंचित् भी चिन्तन–संकल्प-विकल्प न करे। जो चित्त संकल्पों से व्याकुल होता है, उसमें स्थिरता नहीं आ सकती।

यावत्प्रयत्नलेशो यावत्संकल्प-कल्पना काऽपि।
तावन्न लयस्यापि प्राप्तिस्तत्त्वस्य का तु कथा।।

जब तक मानसिक, वाचिक या कायिक प्रयत्न का अंश मात्र भी विद्यमान है और जब तक कुछ भी संकल्प वाली कल्पना मौजूद है, तब तक लय-तल्लीनता की भी प्राप्ति नहीं हो सकती है, तो ऐसी स्थिति में तत्त्व की प्राप्ति की तो बात ही दूर?

उदासीनता का फल

यदिदं तदिति न वक्तुं साक्षाद् गुरुणाऽपि हन्त शक्येत्।
औदासीन्यपरस्य प्रकाशते तत्स्वयं तत्त्वम्।।

जिस परम-तत्त्व को साक्षात् गुरु भी कहने में समर्थ नहीं है कि 'वह यह है', वही परम-तत्त्व उदासीन भाव में परायण योगी के लिए स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है।

उन्मनी भाव

एकान्तेऽति-पवित्रे रम्ये देशे सदा सुखासीनः।
आ चरणाग्र-शिखाग्राच्छिथिलोभूताखिलावयवः।।

रूपं कान्तं पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिरं कलमनोज्ञाम्।
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि भुञ्जानो रसास्वादम्।।

भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम्।
परिकलितौदासीन्यः प्रणष्ट-विषय-भ्रमो नित्यम्।।

बहिरन्तश्च समन्ताच्चिन्ता-चेष्टापरिच्युतो योगी।
तन्मय-भावं प्राप्तः कलयति भृशमुन्मनी-भावम्।।

एकान्त, अत्यन्त पवित्र और रमणीय प्रदेश में सुखासन से बैठा हुआ योगी पैर के अँगूठे से लेकर मस्तक के अग्रभाग पर्यन्त के समस्त अवयवों को ढीला करके कमनीय रूप को देखता हुआ भी, सुन्दर और मनोज्ञ वाणी को सुनता हुआ भी, सुगन्धित पदार्थों को सूँघता हुआ भी, रस का आस्वादन करता हुआ भी, कोमल पदार्थों का स्पर्श करता हुआ भी और चित्त के व्यापारों को न रोकता हुआ भी उदासीन भाव से युक्त है—पूर्ण समभावी है तथा जिसने विषयों सम्बन्धी आसक्ति, विषयों को सुन्दर, सुखद और स्थायी मानने का परित्याग कर दिया है, जो बाह्य और आन्तरिक चिन्ता एवं चेष्टाओं से रहित हो गया है, तन्मय भाव—तल्लीनता को प्राप्त करके अतीव उन्मनी भाव को प्राप्त कर लेता है।

गृह्णन्ति ग्राह्याणि स्वानि स्वानीन्द्रियाणि नो रुन्ध्यात्।
न खलु प्रवर्तयेद्वा प्रकाशते तत्त्वमचिरेण।।

साधक अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हुई इन्द्रियों को न तो रोके और न उन्हें प्रवृत्त करे। वह केवल इतना ध्यान रखे कि विषयों के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न न होने दे। वह प्रत्येक स्थिति में तटस्थ बना रहे। इस प्रकार की उदासीनता प्राप्त हो जाने पर अल्पकाल में ही तत्त्वज्ञान प्रकट हो जाता है।

मनःशान्ति

चेतोऽपि यत्र यत्र प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम्।
अधिकीभवति हि वारितमवारितं शान्तिमुपयाति।।

मत्तो हस्ती यत्नान्निवार्यमाणोऽधिकीभवति यद्वत्।
अनिवारितस्तु कामान् लब्ध्वा शाम्यति मनस्तद्वत्।।

मन जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता हो, उनसे उसे बलात् रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि बलात् रोकने से वह उस ओर और अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जाए तो वह उस ओर अधिक प्रेरित होता है और उसे न रोका जाए तो वह अपने इष्ट विषयों को प्राप्त करके शान्त हो जाता है। यही स्थिति मन की होती है।

मनोविजय की विधि

औदासीन्यनिमग्नः प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा।
भावितपरमानन्दः क्वचिदपि न मनो नियोजयति।।

करणानि नाधितिष्ठत्युपेक्षितं चित्तमात्मना जातु।
ग्राह्ये ततो निजनिजे करणान्यपि न प्रवर्तन्ते।।

नात्मा प्रेरयति मनो न मनः प्रेरयति यर्हि करणानि।
उभय-भ्रष्टं तर्हि स्वयमेव विनाशमाप्नोति।।

उदासीन भाव में निमग्न, सब प्रकार के प्रयत्न से रहित और परमानन्द दशा की भावना करने वाला योगी किसी भी जगह मन को नहीं जोड़ता है। इस प्रकार आत्मा जब मन की उपेक्षा कर देता है, तो वह उपेक्षित मन इन्द्रियों का आश्रय नहीं करता अर्थात् इन्द्रियों में प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता। ऐसी स्थिति में इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति करना छोड़ देती हैं।

जब आत्मा मन में प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता और मन इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता, तब दोनों तरफ से भग्न बना हुआ मन अपने-आप विनाश को प्राप्त हो जाता है।

मनोजय का फल

नष्टे मनसि समन्तात्सकले विलयं च सर्वतो याते।
निष्कलमुदेति तत्त्वं निर्वात-स्थायि-दीप इव।।

जब मन प्रेरक नहीं रहता तो पहले राख से आवृत अग्नि की तरह शान्त हो जाता है और फिर पूर्ण रूप से उसका क्षय हो जाता है अर्थात् चिन्ता, स्मृति आदि उसके सभी व्यापार नष्ट हो जाते हैं। तब वायुविहीन स्थान में स्थापित दीपक जैसे निराबाध प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार आत्मा में कर्म-मल से रहित शुद्ध तत्त्व—आत्म-ज्ञान का प्रकाश होता है।

अमनस्कतया संजायमानया नाशिते मनःशल्ये।
शिथिलीभवति शरीरं छत्रमिव स्तब्धतां त्यक्त्वा।।

अमनस्कता अर्थात् उन्मनीभाव उत्पन्न होने से मन सम्बन्धी शल्य का नाश हो जाता है, अतः तत्त्वज्ञानी का शरीर छाते के समान अकड़ छोड़कर शिथिल हो जाता है।

शल्यीभूतस्यान्तःकरणस्य क्लेशदायिनः सततम्।
अमनस्कतां विनान्यद्विशल्यकरणौषधं नास्ति।।

शल्य के सदृश क्लेशदायक अन्तःकरण को निशल्य करने का अमनस्कता—उन्मनीभाव के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।

अमनस्कता का फल

कदलीवच्चाविद्या लोलेन्द्रियपत्रला मनःकन्दा।
अमनस्कफले दृष्टे नश्यति सर्वप्रकारेण।।

अविद्या कदली के पौधे के समान है। चपल इन्द्रियाँ उसके पत्ते हैं और मन उसका कन्द है। जैसे फल दिखाई देने पर कदली का वृक्ष नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार अमनस्कता (उन्मनीभाव) रूपी फल के दिखाई देने पर अविद्या भी पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। फल आने पर कदली वृक्ष काट डाला जाता है, क्योंकि उसमें पुनः फल नहीं आते।

अतिचञ्चलमतिसूक्ष्मं दुर्लक्ष्यं वेगवत्तया चेतः।
अश्रान्तमप्रमादादमनस्क-शलाकया भिन्द्यात्।।

मन अत्यन्त चंचल और अत्यन्त ही सूक्ष्म है। वह तीव्र वेगवान होने के कारण उसे पकड़ रखना भी कठिन है, अतः बिना विश्राम लिए, प्रमाद का परित्याग करके, अमनस्कता रूपी शलाका से उसका भेदन करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि चंचल वस्तु का भेदन करना कठिन है, किन्तु चपल होने के साथ जो अत्यन्त सूक्ष्म है, उसका भेदन करना और भी कठिन है। फिर जो चपल और सूक्ष्म होने के साथ अत्यन्त वेगवान हो, उसका भेदना तो और भी कठिन है। मन में ये तीनों विशेषताएँ विद्यमान हैं, अतः उसको जीतना सरल नहीं है, फिर भी असम्भव नहीं है। यदि निरन्तर अप्रमत्त रहकर उन्मनीभाव का अभ्यास किया जाये तो उसे अवश्य जीता जा सकता है।

अमनस्कता (उन्मनीभाव) की पहचान

विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम्।
अमनस्कोदय-समये योगी जानात्यसत्कल्पम्।।

अमनस्कता—उन्मनीभाव का उदय होने पर योगी को अपने शरीर के विषय में अनुभूति होने लगती है कि मानो शरीर बिखर गया है, भस्म हो चुका है, उड़ गया है, विलीन हो गया है और वह है ही नहीं। अतः जब योगी शरीर को असतवत् जान लेता है और उसकी दृष्टि में शरीर का अस्तित्व ही नहीं रह जाये, तब समझना चाहिए कि इसमें अमनस्कता उत्पन्न हो गई है।

समदैरिन्द्रिय-भुजंगै रहिते विमनस्क-नव-सुधाकुण्डे।
मग्नोऽनुभवति योगी परामृतास्वादमसमानम्।।

मनोन्मत्त इन्द्रिय रूपी भुजंगों से छुटकारा पाया हुआ योगी विमनस्क (उन्मनी-भाव) रूपी नवीन सुधा के कुण्ड में मग्न होकर अनुपम और उत्कृष्ट तत्त्वामृत का आस्वादन करता है।

रेचक-पूरक-कुम्भक-करणाभ्यास-क्रमं विनाऽपि खलु।
स्वयमेव नश्यति मरुद्विमनस्के सत्य-यत्नेन।।

अमनस्कता की प्राप्ति हो जाने पर रेचक, पूरक, कुम्भक और आसनों के अभ्यास के बिना स्वतः ही मारुत् (पवन) का नाश हो जाता है।

चिरमाहितप्रयत्नैरपि धर्त्तुं यो हि शक्यते नैव।
सत्यमनस्के तिष्ठति स समीरस्तत्क्षणादेव।।

दीर्घकाल तक प्रयत्न करने पर भी जिस वायु का धारण करना अशक्य होता है, अमनस्कता उत्पन्न होने पर वही वायु (मन का प्रवाह) तत्काल एक जगह स्थिर हो जाता है।

भवति खलु शून्यभावः स्वप्ने विषयग्रहश्च जागरणे।
एतद् द्वितयमतीत्यानन्दमयमवस्थितं तत्त्वम्।।

स्वप्न दशा में शून्यता व्याप्त रहती है, विषयों का ग्रहण नहीं होता है और जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण होता है, किन्तु आनन्दमय तत्त्व इन दोनों अवस्थाओं से परे लय में स्थित रहता है।

जीवों को उपदेश

कर्माण्यपि दुःखकृते निष्कर्मत्वं सुखाय विदितं तु।
न ततः प्रयतेत् कथं निष्कर्मत्वे सुलभ-मोक्षे।।

कर्म दुःख के लिए हैं अर्थात् दुःख का कारण हैं और निष्कर्मता सुख के लिए है। यदि तुमने इस तत्त्व को जान लिया है, तो तुम सरलता से मोक्ष प्रदान करने वाले निष्कर्मत्व को प्राप्त करके समस्त क्रियाओं से रहित बनने के लिए क्यों नहीं प्रयत्न करते?

मोक्षोऽस्तु मास्तु यदि वा परमानन्दस्तु वेद्यते स खलु।
यस्मिन्निखिल-सुखानि प्रतिभासन्ते न किञ्चिदिव।।

मोक्ष हो या न हो, किन्तु ध्यान से प्राप्त होने वाला परमानन्द तो प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। उस परमानन्द के सामने संसार के समस्त सुख नहीं के बराबर हैं।

मधु न मधुरं नैता शोतास्त्विषस्तुहिनद्युते-
रमृतममृतं नामैवास्याः फले तु मुधा सुधा।
तदलममुना रसंम्भेण प्रसीद सखे! मनः,
फलमविकलं त्वय्येवैतत् प्रसादमुपेयुषि।।

उन्मनीभाव से प्राप्त आनन्द के सामने मधु मधुर नहीं लगता, चन्द्रमा की कान्ति भी शीतल प्रतीत नहीं होती और अमृत केवल नाम मात्र का अमृत रह जाता है और सुधा तो वृथा ही है, अतः हे मन! तू इस ओर दौड़-धूप करने का प्रयास मत कर। तू प्रसन्न हो। तेरे प्रसन्न होने पर ही तत्त्वज्ञान का सम्पूर्ण फल प्राप्त हो सकता है।

सत्येतस्मिन्नरतिरतिदं गृह्यते वस्तु दूरा-
दप्यासन्नेऽप्यसति तु मनस्याप्यते नैव किञ्चित्।
पुंसामित्यप्यवगतवतामुन्मनीभावहेता-
विच्छा बाढं न भवति कथं सद्गुरुपासनायाम्।।

मन की विद्यमानता में अरति उत्पन्न करने वाली व्याघ्र आदि वस्तु और रति उत्पन्न करने वाली वनिता आदि वस्तु दूर होने पर भी मन के द्वारा ग्रहण की जाती है और मन की अविद्यमानता अर्थात् उन्मनीभाव उत्पन्न हो जाने पर समीप में रही हुई भी सुखद और दुःखद वस्तु भी ग्रहण नहीं की जाती। अर्थात् जब तक मन का व्यापार चालू है, तब तक मनुष्य दूरवर्ती वस्तुओं में से भी किसी को सुखदायक और किसी को दुःखदायक मानता है, किन्तु अमनस्क भाव प्राप्त होने पर समीपवर्ती वस्तु भी न सुखद प्रतीत होती है और न दुःखद ही प्रतीत होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उन्मनीभाव उत्पन्न हो जाने पर योगी की दृष्टि में यह विकल्प नहीं रह जाता कि अमुक वस्तु सुखदायी है और अमुक दुःखदायी। यह स्थिति अत्युत्तम और आनन्दमय है। जिन्होंने इस तथ्य को समझ लिया है, वे सद्गुरु की उपासना के लिए तत्पर रहते हैं।

तांस्तानापरमेश्वरादपि परान् भावैः प्रसादं नयन्,
तैस्तैस्तत्तदुपायमूढ भगवन्नात्मन् किमायस्यसि।

हन्तात्मानमपि प्रसादय मनाग् येनासतां सम्पदः,
साम्राज्यं परमेऽपि तेजसि तव प्राज्यं समुज्जंभते।।

हे उपायमूढ, हे भगवन्, हे आत्मन्! तू धन, यश आदि इष्ट पदार्थों के संयोग और रोग, दरिद्रता आदि अनिष्ट के वियोग की अभिलाषा से प्रेरित होकर परमात्मा, देवी, देवता आदि दूसरों को प्रसन्न करने के लिये क्यों परेशान होता है? तू जरा अपनी आत्मा को भी तो प्रसन्न कर। ऐसा करने से पौद्गलिक सम्पत्ति की तो बात ही क्या, परमज्योति पर भी तेरा विशाल साम्राज्य स्थापित हो जायेगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि परोपासना को त्यागकर आत्मा जब आत्मोपासना में तल्लीन होता है, तभी उसे आत्मिक तेज की प्राप्ति होती है और तभी उसमें उन्मनी-भाव जाग्रत होता है, अतः साधक को अपनी आत्मा की साधना करना चाहिए और सदा आत्म-ज्योति को जगाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ध्यान योगी गोरखनाथ द्वारा प्रणीत अमनस्क भाव से सम्बन्धित अमनस्क योग ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में कायोत्सर्ग को पुष्ट करने वाले श्लाकों में भी कहा है–

अभ्यस्तैः किमुदीर्घकालममलैर्व्याधिप्रदैर्दुष्करैः।
प्राणायामशतैरनेककरपौर्दुःखात्मकैर्दुर्जयैः।

यस्मिन्नभ्युदिते विनश्यति बली वायुः स्वयं तत्क्षणात्
प्राप्त्यैतत्सजं स्वभावनिशं सेवध्वमेकं गुरुम्।।

विविध व्याधियाँ उत्पन्न करने वाले, बड़ी कठिनाई से करने योग्य, दुःख रूप, दुर्जय तथा अनेक साधनों से सम्पन्न होने वाले सैकड़ों प्राणायामों के सुदीर्घ काल तक अभ्यास करने से क्या लाभ? जिसके उदित होने पर बलवती वायु स्वयं तत्क्षण विनष्ट हो जाती है; उसी सहज स्वभावभूत अमनस्क की प्राप्ति के लिए निरन्तर एकमात्र गुरू की सेवा करो।

दृष्टिः स्थिरा यस्य बिनैव दृश्यं,
वायुः स्थिरौ यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।।

जिसकी दृश्य के बिना ही दृष्टि स्थिर हो, प्रयत्न के बिना ही जिसकी वायु स्थिर हो, बिना किसी अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो, वही योगी है, वही गुरु है, उसी की सेवा करनी चाहिए।

अमनस्कं सुशिष्येषु संक्राम्येन्द्रियजं सुखम्।
निवारयन्ते ते वन्द्या गुरुवोऽन्ये प्रतारकाः।।

जो सुशिष्यों में 'अमनस्क' को संक्रान्त कर इन्द्रियजन्य सुख को हटाते हैं, निवृत्त करते हैं, वे गुरु वन्दनीय हैं, उनसे अन्य गुरु गुरु नहीं हैं, वंचक हैं।

शिथिलीकृत सर्वाङ्ग आनखाग्रशिखाग्रतः।
सबाह्याभ्यन्तरे सर्व चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।।

यदा भवेदुदासीनस्तदा तत्त्वं प्रकाशते।
स्वयं प्रकाशते तत्त्वे स्वानन्दस्तत्क्षणाद्।।

पैर के अँगूठे के नख से लेकर शिखा के अग्रभाग (ब्रह्मरन्ध्र) तक सम्पूर्ण अंगों को शिथिल कर योगी बाहरी और भीतरी सब चिन्ता और चेष्टा का त्याग कर जब उदासीन होगा, तब अमनस्क तत्त्व का प्रकाश होता है। उक्त तत्त्व के स्वयं प्रकाश में आने पर आत्मानन्द तत्क्षण प्राप्त होता है।

आनन्देन च सन्तुष्टः सदाभ्यासरतो भवेत्।
सदाभ्यासे स्थिरीभूते न विधिनैव च क्रमः।।

आनन्द से सन्तुष्ट होकर सदा अभ्यास में निरत रहना चाहिए। सदा अभ्यास के स्थिर होने पर फिर न कोई विधि है और न कोई क्रम है।

न किंचिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किंचिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।

योगी कुछ भी चिन्तन न करे, औदासीन्यपरायण (चिन्तन में उदासीन अथवा तटस्थ) हो। कुछ चिन्तन न करने से ही तत्त्व स्वयं प्रकाश में आ जाता है।

स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्।
इदं तदिति तद्वक्तुं गुरूणापि न शक्यते।।

तत्त्व जब स्वयं प्रकाशित होता है, तब तत्क्षण उपासक (योगी) तत्त्वमय हो जाता है। 'यह वह (तत्त्व) है' इस प्रकार उसका प्रतिपादन गुरु भी नहीं कर सकते।

वाङ्मनःकायसंक्षोभं प्रयत्नेन विवर्जयेत्।
शिलाचित्रमिवात्मानं सुस्थिरं धारयेत्तदा।।

वाणी, मन तथा शरीर के क्षोभ का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिए अर्थात् साधक सदा ऐसा प्रयत्न करे, जिससे वाणी, मन और शरीर में क्षोभ न आये। शिला की प्रतिमा के समान उसे अपने शरीर को अच्छी तरह सुस्थिर (निश्चल) रखना चाहिए।

यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्संकल्पकामना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तस्य का कथा।।

जब तक थोड़ा-सा भी प्रयत्न रहेगा, जब तक संकल्प-कामना होगी, अहं-त्वम्—मैं-तुम का ज्ञान है अर्थात् मैं और तुम—इस प्रकार का द्वैत-बोध रहेगा तब तक तत्त्व की बात कहाँ?

औदासीन्यामृतौघेन वर्धमानेन योगीनाम्।
उन्मूलितमनोमूलौ जगद्वृक्षः पतिष्यति।।

योगियों के निरन्तर बढ़ रहे उदासीनता रूपी अमृत के प्रवाह से मन रूपी मूल (जगत् की जड़) के उखड़ जाने पर, उन्मूलित हो जाने पर जगत् रूपी वृक्ष गिर जायेगा।

निक्षिप्तं कनकं विहाय कलुषं यद्वद् भवेन्निर्मलं
निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परम्।
तद्वत् सर्वमिदं विहाय सकलं देदीप्यते निष्कलं
तत्त्वं तत्सहजं स्वभावममलं जातऽमनस्के ध्रुवम्।।

अग्नि में डाला हुआ सोना जैसे कालिमा का त्याग कर निर्मल हो जाता है एवं जैसे निर्वात (वायुरहित) स्थान पर जल तरंगरहित तथा स्वच्छ-स्वभाव रहता है, वैसे ही अमनस्क हो जाने पर सकल (कल-सहित) तत्त्व निश्चय ही इस निश्चल प्रपंच का त्याग कर निर्मल, निष्कल, सहज स्वभाव हो जाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्तये निर्विषयं मनः।।

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का हेतु है। विषयों में आसक्त मन बन्धन के लिए और निर्विषय मन मुक्ति के लिए कारण होता है।

जायमानामनस्कस्य ह्युदासीनस्य तिष्ठतः।
मृदुत्वं च परत्वं च शरीरस्यास्थ जायते।।

अमनस्कता जिसमें उत्पन्न हो रही है और जो चारों ओर से सर्वविषयों में उदासीन रहता है और जो स्थितशील हो गया है, ऐसे योगी का शरीर कोमल और श्रेष्ठ हो जाता है।

अमनस्के क्षणात्क्षीणं कामक्रोधादिबन्धनम्।
नश्यतिकरणस्तम्भं देहगेहं स्लथं भवेत्।।

अमनस्क भाव का उदय होने पर क्षण-भर में काम-क्रोधादि बन्धन क्षीण हो जाते हैं, इन्द्रिय-स्तम्भ (इन्द्रिय समूह) नष्ट हो जाते हैं, देह रूपी घर शिथिल हो जाता है।

अमनस्कखनित्रेण समूलोन्मूलने कृते।
अन्तःकरणशल्ये तु सुखी संजायते मुनिः।।

अमनस्क रूपी कुदारी से अन्तःकरण (मन) रूपी शल्य (काँटे) के समूल (जड़ सहित) उन्मूलित होने पर मुनि (योगी) सुखी हो जाता है।

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते।
तस्माच्चितं स्थिरीकुर्यादौ दासीन्यपरायणः।।

चित्त के चंचल होने पर संसार का भान होता है और निश्चल होने पर मोक्ष की उपलब्धि होती है। अतएव उदासीनता (निष्क्रियता)-पूर्वक चित्त को स्थिर करना चाहिए।

कायोत्सर्ग : एक अनुचिन्तन

दुःख किसी को भी पसन्द नहीं है। फिर भी दुःख आ ही जाता है। दुःख आने का कारण क्या है ? तो कहना होगा कि समस्त दुःखों की उत्पत्ति का कारण दोष है। कोई भी दुःख ऐसा नहीं है जो किसी दोष का परिणाम नहीं हो। अब प्रश्न उठता है कि दोषों की उत्पत्ति का कारण क्या है ? विचार करने से ज्ञात होता है कि सभी दोष देहाभिमान से, अपने को देह मानने से, देह से तादात्म्य करने से उत्पन्न होते हैं। कारण कि देहाभिमान प्राणी में वासनाएँ उत्पन्न कर देता है। वासनापूर्ति के सुख से राग उत्पन्न होता है और उस सुख में जो बाधक बनता है उससे द्वेष उत्पन्न होता है। राग-द्वेष से समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। दोषों के परिणाम से दुःखों की उत्पत्ति होती है। अतः समस्त दुःखों व दोषों से मुक्त होने का उपाय है देहाभिमान से रहित होना। इसी को जैन तत्त्वज्ञान में कायोत्सर्ग कहा है और कायोत्सर्ग से दुष्कर्म (पापकर्मों) की निर्जरा होती है। जिससे दोष व दुःख का निवारण हो जाता है।

कायोत्सर्ग व देहाभिमान से रहित होने का उपाय क्या है? इसके लिए सर्वप्रथम इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को बुद्धिज्ञान से मिटाना होगा। इन्द्रिय-ज्ञान से शरीर आदि भोग्य वस्तुएँ सुन्दर, सुखद तथा स्थायी प्रतीत होती हैं, जिससे प्राणी विषयसुख की वासनाओं में आबद्ध हो जाता है और पराधीन होकर दीन-हीन हो जाता है। यथा- जब कोई अपने ही शरीर को इन्द्रियजन्य ज्ञान से देखता है तब उसे शरीर सुन्दर व स्थायी ज्ञात होता है किन्तु जब उसी शरीर को बुद्धिजन्य ज्ञान से देखता है तब उसे शरीर के भीतर मल, मूत्र, मांस, मज्जा आदि दुर्गन्धित वस्तुएँ भरी हुई दिखाई देती हैं जिससे शरीर के प्रति घृणा उत्पन्न होती है तथा शरीर की सुन्दरता अरुचि में परिणत हो जाती है। इस प्रकार जो बुद्धिज्ञान से शरीर की वास्तविकता को स्वीकार करेगा, वह उसमें रहना पसन्द नहीं करेगा। जैसे किसी स्वर्ण-घट में मल-मूत्र आदि दुर्गन्धित वस्तुएँ भरकर ऊपर रेशम से ढक दिया जाय तो उसे क्या कोई अपने पास रखना पसन्द करेगा? नहीं। वृद्धावस्था में शरीर में झुरियाँ पड़ जाती हैं और सुन्दरता नष्ट हो जाती है, फिर मृत्यु हो जाती है और अन्त में शरीर मिट्टी में मिल जाता है अर्थात् शरीर में सतत परिवर्तन होता है, क्षणभंगुर है। इस प्रकार जो शरीर, इन्द्रिय-ज्ञान से सुन्दर व

स्थायी लगता था वह ही शरीर, बुद्धिजन्य ज्ञान से अशुचिमय, घृणित वस्तुओं का भण्डार (भाण्डा), क्षणभंगुर एवं नश्वर ज्ञात होता है। फिर भी हम शरीर को सुन्दर अलंकारों एवं वस्त्रों से सुशोभित तथा इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों से सुरभित रखना चाहते हैं, यह निजज्ञान का अनादर है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बुद्धिजन्य ज्ञान शरीर को फेंकने तथा मिटाने के लिए कहता है। ज्ञान तो वस्तुओं की वास्तविकता को प्रकट करता है, उनको मिटाता नहीं है। बुद्धिजन्य ज्ञान शरीर की वास्तविकता को प्रकटकर उसके प्रति आसक्ति तथा ममता का त्याग करने की प्रेरणा देता है। शरीर की ममता मिटने से विषय-भोगों से अरुचि एवं संयम के प्रति रुचि जाग्रत होती है। जिससे हिंसा, झूठ आदि अशुभ प्रवृत्तियों की निवृत्ति एवं शुभ प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले सुख की आसक्ति नहीं रहती है। इस प्रकार स्थूल (औदारिक) शरीर से असंगता हो जाती है। विषय-भोगों की वासना से विरक्त होने से निरर्थक चिन्तन मिट जाता है और सार्थक चिन्तन आसक्ति रहित होकर अचिन्त्य हो जाता है। इस प्रकार सूक्ष्म (तेजस) शरीर से असंगता हो जाती है। चिन्तन रहित होते ही निर्विकल्प स्थिति आ जाती है। निर्विकल्प स्थिति में रमण न करने पर अर्थात् निर्विकल्प स्थिति की आसक्ति मिट जाने पर निर्विकल्प बोध हो जाता है और कारण (कार्मण) शरीर से असंगता हो जाती है फिर देहाभिमान सर्वांश में अपने-आप गल जाता है, जिससे अमरत्व की अनुभूति हो जाती है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरों से असंग होना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग अर्थात् तीनों शरीरों से असंग, अतीत होते ही शरीर, संसार व कर्म (कषाय) का व्युत्सर्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है। इनके बन्धन से मुक्ति हो जाती है और निज स्वरूप से अभिन्नता हो जाती है तथा ज्ञान, दर्शन आदि सभी निज (आत्म) गुण पूर्ण रूप में प्रकट हो जाते हैं।

कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग में आत्मा को शरीर और संसार से पृथकता का अर्थात् देहातीत, लोकातीत, इन्द्रियातीत अवस्था का अनुभव होता है। यह ही बन्धन से मुक्त होना है। अप्रयत्नशील होना व्युत्सर्ग है। अचिन्तन (अचाह) होना ध्यान है। अपना अन्वेषण व खोज करना स्वाध्याय है।

जिस प्रवृत्ति से अपना सुख चाहते हैं, वह भोग है, जो प्रवृत्ति दूसरों के हित के लिए की जाती है वह सेवा है, वैयावृत्य है। जीवन में करने का राग है इसलिए सेवा नहीं करेंगे तो भोग करेंगे, परन्तु किसी प्रवृत्ति के बदले में अपना सुख चाहते हैं तो वह स्वार्थ है, सौदा है, सेवा नहीं है। सेवा का अर्थ ही है, जिसमें दूसरे का हित हो, कल्याण हो, दूसरों को प्रसन्नता हो। भोग से तो शरीर और संसार से सम्बन्ध जुड़ता है, सम्बन्ध टूटता व छूटता नहीं है। शरीर और

संसार से सम्बन्ध, चिन्तन व चाह रहते हुए स्वयं की खोज नहीं हो सकती। सेवा से जब शरीर और संसार से सम्बन्ध टूटता है, तब हम स्वयं की खोज के अधिकारी होते हैं। अपनी खोज करना ही स्वाध्याय है। जो अपनी खोज करता है वह खोज करते-करते स्वयं खो जाता है फिर केवल "है" शेष रह जाता है अर्थात् 'मैं' "है" में विलीन हो जाता है। जो शरीर और संसार में कुछ भी अपने लिए सुख चाहेगा, उसका शरीर और संसार से तादात्म्य बना रहेगा। उसका शरीर और संसार से अहंत्व और ममत्व का सम्बन्ध बना रहेगा, वह शरीर और संसार को ही मैं और मेरा मानेगा। वह शरीर और संसार से पृथकता का अनुभव नहीं कर सकता। मैं व मेरेपन के त्याग से अर्थात् कषाय आदि के त्याग से शरीर की पृथकता का अनुभव होता है। यह अनुभव होना ही अपने स्वरूप में स्थित होना है, अपने स्वरूप को जानना है, यही स्वाध्याय है। चाह रहित—अचाह होना, संकल्प-विकल्प रहित होना ही समाधि है।

शरीर से चैतन्य का पृथक् अनुभव होना ही देह-व्युत्सर्ग है। संसार से पृथकता का अनुभव होना ही संसार-व्युत्सर्ग है। कषाय रहित होना ही कषाय-व्युत्सर्ग है, अतः विषय-सुख के भोगी को अपने स्वरूप एवं देहातीत अवस्था का अनुभव नहीं हो सकता अर्थात् जो प्रवृत्ति अपने सुख के लिए की जाती है, वह भोग है, अतः जो प्रवृत्ति अपने सुख के लिए न होकर परहित के लिए की जाती है, वह सेवा है। सेवा से ही स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग की सामर्थ्य आती है। साधक व योगी वह ही है जो भोगी नहीं है। जो भोगी नहीं है उसकी कोई भी प्रवृत्ति अपने सुख के लिए नहीं होकर परहित के लिए होती है। वह सेवा-रूप ही होती है। सेवा के अभाव में अर्थात् भोगवृत्ति रहते न स्वाध्याय सम्भव है, न ध्यान सम्भव है और न ही व्युत्सर्ग सम्भव है। सेवा अर्थात् सद्प्रवृत्ति से स्वाध्याय की, स्वाध्याय से ध्यान की, ध्यान से कायोत्सर्ग की सामर्थ्य आती है। कायोत्सर्ग से शरीर, संसार, कषाय व कर्म का व्युत्सर्ग होता है, जिससे कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

स्थूल शरीर को 'मैं' मानने से इन्द्रियों से सम्बन्ध जुड़ता है। इन्द्रियों के सम्बन्ध जुड़ने से इन्द्रियाँ विषय-भोगों की ओर प्रवृत्त होती हैं, जिससे मन से सम्बन्ध जुड़ता है। इससे विषय-सुख की लोलुपता उत्पन्न होती है। सुख-लोलुपता की दासता में आबद्ध व्यक्ति में जड़ता आ जाती है जिससे उसके हृदय में दुःखियों के प्रति करुणा एवं उनको सुख पहुँचाने का भाव उत्पन्न नहीं होता है। इसके विपरीत अपने को देह नहीं मानने से शरीर और इन्द्रियों की विषय-भोग में प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् अशुभ प्रवृत्ति से असंगता हो जाती है, फिर

स्वतः सेवा-रूप शुभ प्रवृत्ति होती है। इससे नवीन कर्म-बंध रुक जाता है। सेवा या वैयावृत्य प्रवृत्ति में कर्तृत्व का अभिमान व फल की आकांक्षा न रहने से व्यर्थ चिन्तन की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् सूक्ष्म शरीर से असंगता हो जाती है और स्वाध्याय रूप–निजस्वरूप सार्थक चिन्तन स्वतः होने लगता है। फिर स्वाध्याय रूप सार्थक चिन्तन अचिन्तन में विलीन या परिणत हो जाता है। चिन्तन रहित शान्त–निर्विकल्प अवस्था ध्यान है। निर्विकल्प अवस्था के रस में रमण न करने से, अप्रयत्न होने से, कारण (कार्मण) शरीर से असंगता हो जाती है जिससे कर्मों का व्युत्सर्ग होता है। आत्म-गुणघाती कर्मों का क्षय हो जाता है। यह ही कायोत्सर्ग तप का उत्कर्ष रूप है जिससे शरीर, संसार, कषाय से असंगता होकर घाती कर्मों की निर्जरा (क्षय) हो जाती है। फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है जिससे अशेष-अनन्त ज्ञान प्रकट हो जाता है। सन्देह शेष नहीं रहने से निर्विकल्प बोध, अनन्त दर्शन (चैतन्य स्वरूप) प्रकट हो जाता है। 'करना' शेष नहीं रहने से यथाख्यात चारित्र हो जाता है।

आज तक किसी को भी यह ज्ञात नहीं हो सका कि हमारा देह से सबसे पहले सम्बन्ध कब जुड़ा था, क्यों जुड़ा था, हम निज स्वरूप से विमुख कब हुए थे, क्यों हुए थे? एक सच्चे साधक के लिए इन प्रश्नों का महत्त्व भी नहीं है। उसके लिए तो यह समझ लेना, अनुभूति कर लेना महत्त्वपूर्ण है कि कायोत्सर्ग से देहातीत होने पर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। इससे यह मानना पड़ता है कि सभी दोषों का मूल अनन्त से विमुखता है, देह से जुड़ना है, देहाभिमान है। इस मूल दोष को मिटाने के लिए चाहे तो 'मैं देह नहीं हूँ'–इस विवेक को अपनाये अथवा 'मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हूँ'–इस विश्वास को अपनाये, अथवा अपने को देहातीत अनुभव करे, इन में से जो साधना जिसको सुगम हो, वह उसे अपनाये तो साधक का जीवन उस साधना से अभिन्न हो जाता है और वह सुगमतापूर्वक अपने साध्य को प्राप्त कर लेता है।

कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग : देहातीत होना

देहाभिमान रहित होते ही स्वतः निर्वासना आ जाती है। वासना रहित होते ही मन में निर्विकल्पता, बुद्धि में समता, हृदय में निर्भयता और चित्त में प्रसन्नता स्वतः आजाती है। मन की निर्विकल्पता तथा बुद्धि की समता सब प्रकार के द्वन्द्वों का अन्त करने में समर्थ है। द्वन्द्वों का अन्त होते ही निस्संदेहता तथा प्रेम की प्राप्ति होती है। निस्संदेहता से तत्त्वबोध और प्रेम से नित नूतन अनन्त सुख की उपलब्धि होती है।

अपने को देह मान लेने से देह से तादात्म्य हो जाता है, देहाभिमान हो जाता है। देहाभिमान होने पर वस्तु, व्यक्ति, अवस्था से सम्बन्ध हो जाता है और प्राणी इनकी दासता में आबद्ध हो जाता है। वस्तुओं की दासता लोभ, व्यक्तियों की दासता मोह, अवस्था की दासता जड़ता उत्पन्न करती है। लोभ, मोह तथा जड़ता में आबद्ध प्राणी परिस्थितियों का दास हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपने को देह मान लेने अथवा देह को अपना मान लेने से परिस्थितियों की दासता उत्पन्न होती है जो देहभाव को, देह से तद्रूपता को पुष्ट करती है।

यदि देह की नश्वरता, अशुचित्व आदि वास्तविकता को जानकर देहभाव का त्याग कर दिया जाय तो हमारा माना हुआ 'मैं' तथा 'मेरापन' मिट जाता है। जिसके मिटते ही अपने से भिन्न पदार्थों से माने हुए मैं, मेरेपन तथा तादात्म्य रूप सम्बन्धों का सदा के लिए विच्छेद हो जाता है, तदनन्तर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी से अपनी भिन्नता का अनुभव हो जाता है। फिर विषय-वासना, कषाय व मोह का सदा के लिए अन्त (क्षय) हो जाता है और साधक अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि राग व मोह आदि समस्त दोषों की उत्पत्ति का हेतु क्या है? तो कहना होगा कि अपने को देह मान लेना, देह से तद्रूप होना, देह को सदैव बनाये रखने की आशा व विश्वास रखना ही राग व मोह की उत्पत्ति का हेतु है। यह निज ज्ञान, श्रुतज्ञान का अनादर है, ज्ञानावरण है। अब विचार यह करना है कि इस स्वतःस्फूर्त निज ज्ञान को कैसे प्राप्त करें? तो कहना होगा कि जानने के तीन साधन हैं--(1) इन्द्रियों के द्वारा, (2) विवेकयुक्त बुद्धि के

द्वारा और (3) जो इन्द्रिय और बुद्धि से अतीत स्वयंसिद्ध निजज्ञान है उसके द्वारा।

देह परिवर्तनशील है। यह शिशु अवस्था में छोटी थी, किशोर अवस्था में बड़ी हुई, युवावस्था में पुष्ट हुई, वृद्धावस्था में बाल श्वेत होने लगे व चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ने लगी। इस प्रकार देह में परिवर्तन होते रहने पर भी उस देह में 'मैं' तत्त्व अपरिवर्तनशील रहता है। बचपन से युवा व वृद्ध होने पर किसी के द्वारा पूछा जाय कि तुम कौन हो, तो वह कहेगा कि 'मैं' वही हूँ जिसे पचास वर्ष पूर्व आपने बचपन में छोटा-सा देखा था। मेरे शरीर में परिवर्तन होने से भले ही आप मुझे न पहचान सकें, परन्तु 'मैं' हूँ वही जिसे आपने पहले देखा था। तात्पर्य यह है कि देह बदलती है, परन्तु देह में निवास करने वाला देही नहीं बदलता है। यह देही ही 'मैं' है। देह मरणधर्मा है या परिवर्तनशील है और देही जीवनधर्मा है। यही कारण है कि जब तक यह जीवनधर्मा देही में बसता है तब तक देह भी जीवित कही जाती है। देही के निकल जाने पर देह पिण्ड, मुर्दा या लाश कही जाती है।

देही जीवनधर्मा है और देह मरणधर्मा है। दोनों के धर्म या गुण भिन्न-भिन्न हैं, परस्पर विरोधी हैं, अतः दोनों एक जाति के नहीं हैं, एक नहीं हैं। फिर भी देही भूल से देह के साथ तादात्म्य व अपनेपन का भाव पैदा कर लेता है। इस भूल के परिणामस्वरूप वह अपने को देह रूप मानने लगता है। देह के गौरवर्ण होने पर अपने को गोरा, देह के वृद्ध होने पर अपने को बूढ़ा, देह के रुग्ण होने पर अपने को रोगी मानता है। वस्तुतः देही आत्मा, देह से भिन्न जाति का है, भिन्न है। देह में परिवर्तन होने से उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। देह के हाथ, पैर आदि किसी अंग के कट जाने से देही—आत्मा के 'मैं' में कुछ भी कमी नहीं होती है। देह के काली, गौरी वर्ण की होने से देही काला, गौरा वर्ण का नहीं होता है। देह के वृद्ध, रुग्ण या मरण होने से देही वृद्ध, रुग्ण व मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है। देह का अंग भंग होने से देही (आत्मा) की कोई हानि नहीं होती है, परन्तु अपने को देह मानने की भूल से, अज्ञान से और मिथ्यात्व से वह देह में होनेवाली अवस्थाओं को अपने पर आरोपित कर लेता है और जिस प्रकार लोहे के संग से आग घण से पीटी जाती है उसी प्रकार देह के संग से देही को बुढ़ापा, रोग आदि का दुःख झेलना पड़ता है।

देह में अहं-बुद्धि होने का फल यह होता है कि देही अपने को सुखी-दुःखी अनुभव करने लगता है। वह देह और इन्द्रिय के भोगों से अपने को सुखी और भोगों में व्यवधान या अन्तराय पड़ने से अपने को दुःखी मानता है। उसका

सुख देह पर आधारित हो जाता है। किन्तु देह से प्राप्त होने वाले सुख से उसे कभी तृप्ति नहीं होती है। अतः वह सुख प्राप्ति के लिए नयी-नयी कामनाएँ करता रहता है। उसके देह का अन्त हो जाता है परन्तु कामनाओं का अन्त नहीं होता है। कामनाएँ शेष रह जाती हैं। कामनाओं की पूर्ति देह के बिना सम्भव नहीं है। अतः प्राकृतिक नियम से शेष कामनाओं को पूरी करने के लिए उसे पुनः देह धारण करना पड़ता है, नया जन्म लेना पड़ता है। इस नये जन्म में भी पुनः वही स्थिति बनती है। इस नये जन्म में भी सुख-पूर्ति के लिए की गई कामनाओं का अन्त नहीं होता है और देहान्त हो जाता है। परिणामस्वरूप पुनः देह धारण करना पड़ता है। इस प्रकार जन्म-मरण का, आवागमन का संसार-चक्र चलता रहता है और उसे रोग-शोक, जरा-मरण आदि का दुःख झेलना पड़ता है। इन सबका कारण देह को 'मैं' मानना मिथ्या मान्यता है।

देह को 'मैं' मानना मिथ्या धारणा मात्र है, वास्तविकता नहीं है। कारण कि देह और देही में स्वरूप की एकता नहीं है, प्रत्युत भिन्नता है। क्योंकि देह में जानने व अनुभव करने की क्षमता या गुण नहीं है। किसी के देह से यदि हाथ, पैर आदि कोई अंग किसी दुर्घटना में कट जाये, तो उस कटे हुए अंग को चीरने, जलाने से उस अंग को न तो कष्ट का अनुभव होता है और न ज्ञान ही होता है। इससे स्पष्ट है कि देह में जानने व अनुभव करने की क्षमता नहीं है। उस अंग के अलग होने के कष्ट का अनुभव और ज्ञान देही को होता है। जिस तत्त्व को अनुभव व ज्ञान होता है वह चेतन या आत्मा या जीव कही जाती है। जिस तत्त्व या पदार्थ को अनुभव व ज्ञान नहीं होता है वह अचेतन या अजीव कहा जाता है। इस दृष्टि से देह अजीव है और देही—आत्मा या मैं जीव है। अजीव को मैं या जीव मानना सबसे बड़ी भूल है, मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व ही अन्य समस्त दोषों की जड़ है। देह और देही—आत्मा का भिन्नत्व अनुभव किया जाना कायोत्सर्ग है।

जिज्ञासा—कायोत्सर्ग में आत्मा का शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। इससे अनेक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं—प्रथम, शरीर और संसार से आत्मा अलग हट जाती है तो आत्मरहित शरीर तो शव—लांश होती है। दूसरा, मन, वचन और तन, इन सबकी प्रवृत्ति क्रियारहित होने पर कायोत्सर्ग होता है तो सब क्रियारहित होने पर तो शरीर शव हो जाता है—शव क्रिया नहीं करता है। तृतीय, शरीर और संसार से जुड़े रहने से और क्रिया करने से क्षणिक सुख तो मिलता है, उससे अलग होने पर तो यह क्षणिक सुख भी खो जाता है, शरीर और इन्द्रिय के बिना भी सुख मिलता है तो वह कौनसा सुख है,

केवल कल्पना मात्र है। चतुर्थ, शरीर और संसार के बिना भी किसी का अस्तित्व रहता है, इसका क्या प्रमाण है? यदि है तो वह अस्तित्व कैसा होता है? उसमें क्या उपलब्धि होती है जिससे उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाए? प्राप्त इन्द्रिय सुख को छोड़, अप्राप्त अज्ञात, काल्पनिक सुख की आशा व प्रयत्न करना कौनसी बुद्धिमानी है? आत्मारहित शरीर मृत हो जाना है, क्रिया रहित, अक्रिय होना अकर्मण्य हो जाना है, विषय-सुखों का त्यागना सुख से वंचित होना है; ज्ञात को छोड़ अज्ञात काल्पनिक सुख के लिए प्रयत्नशील होना जल को मथकर घृत निकालना है। ये सब किसी भी व्यक्ति के इष्ट नहीं हो सकते, अतः मात्र धोखा हैं, माया-जाल हैं, भ्रम हैं।

समाधान—प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रतिदिन तीन अवस्थाएँ आती हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (गहरी निद्रा)। जाग्रत और स्वप्न में शरीर और संसार से अर्थात् दृश्य जगत् से सम्बन्ध जुड़ा रहता है, इनमें व्यक्ति प्रवृत्ति (क्रिया) करके अपनी कामना पूरी करता है और सुख भोगता है, कामना पूरी नहीं होने पर दुःखी होता है, दुःख भोगता है। इन दोनों अवस्थाओं में सुख-दुःखयुक्त जीवन रहता है। परन्तु प्रवृत्ति व क्रिया में शक्ति का व्यय होता है, इससे शक्तिहीनता आती है, जो थकावट के रूप में प्रकट होती है। इस शक्तिहीनता, थकावट को मिटाने के लिए विश्राम की आवश्यकता होती है। विश्राम पाने के लिए व्यक्ति सब क्रियाएँ व प्रवृत्ति बन्द करके निद्रा लेता है। निद्रा में स्वप्न आते हैं, स्वप्न में शरीर तो कार्य नहीं करता है परन्तु मन और बुद्धि सक्रिय रहते हैं और स्वप्न में भी जाग्रत के समान सुख-दुःख भोगते हैं, उससे थकने पर सुषुप्ति अवस्था—गहन निद्रा आती है। इसमें मन-बुद्धि भी कार्य करना बन्द कर देते हैं, पूर्ण अक्रिय अवस्था हो जाती है। अर्थात् जाग्रत और स्वप्न—ये दोनों अवस्थाएँ सुषुप्ति में विलीन हो जाती हैं। जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं का ज्ञान जाग्रत और स्वप्न में भी रहता है, परन्तु सुषुप्ति का ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में स्पष्ट नहीं होता है, मैं सोता हूँ—ऐसा 'मैं' का भास भी नहीं होता है। परन्तु जब पुनः जाग्रत अवस्था आती है तो मुझे सुखपूर्वक निद्रा आयी—ऐसी स्मृति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति अवस्था में सुख की अनुभूति होती है, क्योंकि स्मृति उसी की होती है जिसकी पहले अनुभूति हुई हो। आशय यह है कि सुषुप्ति अवस्था में दृश्य जगत्, शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है तथा तन, मन, वचन, बुद्धि आदि सब कार्य, क्रिया-प्रवृत्ति करना बन्द कर देते हैं, परन्तु शरीर शव नहीं हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने तथा सब प्रकार की क्रियाओं से रहित होने से शरीर

शव हो जायेगा—यह आशंका निराधार है। सुषुप्ति में इन्द्रिय-मन-बुद्धि निष्क्रिय होने से इनसे मिलनेवाला सुख नहीं रहता है। विषय-सुख का अभाव हो जाता है, परन्तु जाग्रत अवस्था प्राप्त होने पर, सुषुप्ति अवस्था में सुखपूर्वक सोने की अनुभूति की स्मृति विद्यमान रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति अवस्था में भी सुख होता है और यह सुख इन्द्रियों के भोग के सुख से भिन्न है, जिसका वर्णन सम्भव नहीं है। इससे यह फलित होता है कि शरीर-संसार-इन्द्रिय आदि भोग के सुख से भिन्न अलौकिक, अनिर्वचनीय सुख भी होता है। वह सुख शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि के निष्क्रिय होने से होता है। अतः जिसे यह सुख होता है वह इन सबसे भिन्न है और उसका अस्तित्व है। यह अस्तित्व शरीर से अतीत होने से मरणरहित है, अमरत्व है। उसका आत्मा, परमात्मा, जीव, ब्रह्म आदि कुछ भी नाम रखा जाय या नामकरण न भी किया जाय, इससे उसके अस्तित्व में कुछ अन्तर नहीं पड़ता है।

उपर्युक्त सब विवेचन सुषुप्ति को आधार बनाकर किया गया है और सुषुप्ति में जड़ता होती है, इससे जिज्ञासा होती है तो क्या चेतनत्व का त्यागकर जड़ता ग्रहण करनी चाहिए? तो कहना होगा कि ऊपर निद्रा को तो उदाहरण, दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसे देश (अंश) से आंशिक रूप में ही लेना चाहिए। यदि साधक जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्तिवत् हो जाय अर्थात् दृश्य जगत् (शरीर, संसार आदि) से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले, मन, वचन, काया, इन्द्रिय, बुद्धि आदि को अक्रिय—स्थिर कर ले, तो अमरत्व के अलौकिक सुख का अनुभव हो जाता है। जाग्रत में सुषुप्तिवत् होना ही कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग से लाभ

ध्यान की चरम परिणति कायोत्सर्ग में होती है। कायोत्सर्ग से शरीर, संसार व कषाय का व्युत्सर्ग होता है।

1. शरीर-व्युत्सर्ग से देहातीत अवस्था का, अमरत्व का अनुभव होता है।
2. संसार-व्युत्सर्ग से लोकातीत, अलौकिक, परमानन्द का अनुभव होता है।
3. कषाय व कर्म-व्युत्सर्ग से निर्दोषता का, मुक्ति का, स्वाधीनता का अनुभव होता है जिससे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन (चिन्मयता), पूर्ण निर्दोषता, (यथाख्यात चारित्र), क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त उदारता (दान), अनन्त ऐश्वर्य (लाभ), अनन्त सौन्दर्य (भोग), अनन्त माधुर्य (उपभोग), अनन्त सामर्थ्य (वीर्य) की लब्धि होती है।

असंप्रज्ञात समाधि में निज-स्वरूप की अनुभूति होती है।

जैसे गेहूँ की खेती से गेहूँ प्राप्ति के मुख्य लाभ के साथ भूसे का लाभ स्वतः होता है। इसी प्रकार ध्यान-कायोत्सर्ग साधना से अमरत्व, स्वाधीनता, चिन्मयता, पूर्णता आदि आध्यात्मिक मुख्य लाभ प्राप्ति के साथ शारीरिक, मानसिक, लौकिक लाभ स्वतः प्राप्त होते हैं, यथा–

1. **शारीरिक लाभ**–ध्यान से शरीर को यथेष्ट वास्तविक विश्राम मिलता है–
   (1). क्लान्ति (थकावट) दूर होती है।
   (2). शक्ति का संचय होता है।
   (3). रक्तचाप, माइग्रेन, हृदय रोग आदि प्रायः सभी रोगों के प्रतिरोध की क्षमता बढ़ती है व रोगों का क्षय होता है।
   (4) कार्य करने की क्षमता बढ़ती है।

2. **मानसिक लाभ**
   (1) चित्त स्थिर व शान्त होता है। मन से मुक्ति मिलती है। अमन की अनुभूति होती है।

(2) संकल्प-विकल्पजन्य आकुलता-व्याकुलता मिटती है।

(3) तनाव (Tension) मिटता है।

(4) हीनभाव (Depression) मिटता है।

(5) निराशा, कुण्ठाएँ मिटती हैं—वैकुण्ठ (स्वर्गीय) सुख का अनुभव होता है।

3. बौद्धिक लाभ

(1) सही सोचने की शक्ति प्रकट होती है।

(2) निश्चिन्तता की अनुभूति होती है।

(3) चिन्तन का अन्त अचिन्तता में होता है।

(4) निर्णय करने की शक्ति बढ़ती है।

(5) अन्तर्द्वन्द्व मिटता है।

(6) विवेक जाग्रत होता है।

(7) अनिष्ट अवांछित विचारों से मुक्ति मिलती है।

कायोत्सर्ग : समभाव की साधना

सुख जीव का स्वभाव है। सच्चे सुख का अनुभव निज स्वभाव में स्थित होने में ही है। मन, वचन और तन की किसी क्रिया के करते हुए बहिर्मुखी अवस्था रहती है, जिससे स्वभाव में स्थित होना सम्भव नहीं है। इसीलिए साधना में तन की क्रिया का निरोध करने के लिए स्थिर–निश्चल आसन में बैठना होता है। वचन की क्रिया के निरोध के लिए मौन का विधान है। मन की क्रिया के निरोध के लिए मन को अन्तर्मुखी बना स्व में स्थित करना है। अन्य उपायों से किया गया मन का लय तात्कालिक लाभ पहुँचाता है। जैसे प्राणायाम से श्वास पर ध्यान लगाने से भी मन एकाग्र होता है परन्तु जैसे ही प्राणायाम बन्द कर दिया जाता है तो मन बहिर्गामी होकर विषय-वासनाओं में भटकने लगता है। इसी प्रकार किसी आकृति-विशेष के चिन्तन, नाम-स्मरण, मन्त्र, जाप, त्राटक आदि करने से भी मन एकाग्र हो जाता है, उस समय वासनाएँ दब जाती हैं, परन्तु उनका नाश नहीं होता है। अतः पुनः विषय-विकारों का उदय हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि मन को एकाग्र करने की क्रियाओं का उद्देश्य वासनाओं से विरक्त व देहातीत होना नहीं होता है। अपितु शरीर और मन को स्वस्थ व सशक्त बनाकर इसे अधिकाधिक विषय-सुखों का भोग कराना होता है। प्रतिदिन गहरी निद्रा में यही कार्य प्रकृति से स्वतः होता है। गहरी निद्रा में मन-वचन-तन, इन तीनों का लय हो जाता है जिससे सुख की अनुभूति होती है, रोगों का निवारण होता है, शक्ति का संचय व वृद्धि होती है, परन्तु इस अवस्था में जड़ता की स्थिति रहती है। अतः इससे आध्यात्मिक विकास नहीं होता है। कारण कि इसका लक्ष्य विषय-वासनाओं से विरक्त होना, देह और मन से परे की अवस्था का अनुभव करना नहीं है, प्रत्युत देह और मन को पुष्ट करना है, जबकि योग व ध्यान-साधना का उद्देश्य देह और मन से अतीत हो निज स्वरूप के सच्चे सुख का अनुभव करना एवं सब दुःखों से मुक्त होना है। सब दुःखों से मुक्त होने का उपाय समभाव में रहना है, अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में समता से रहना, इनके प्रति हर्ष-शोक या राग-द्वेष नहीं करना है। अथवा यों कहें कि आधि-व्याधि-उपधि से प्रभावित नहीं होना है, इसे ही समाधि कहा जाता है। समाधि की अनुभूति तब ही सम्भव है जब साधक अपने को देह से भिन्न

अनुभव करे। देह से अपने को भिन्न अनुभव करना ही कायोत्सर्ग है। प्राणी शरीर से सुख चाहता है एवं इन्द्रियों व संसार को सुख का माध्यम मानता है। सुख की प्रतीति में राग करता है और सुख में बाधा उत्पन्न होने पर दुःख की प्रतीति होती है। दुःख की प्रतीति में द्वेष उत्पन्न होता है। ये राग-द्वेष, कषाय ही समस्त दोषों की उत्पत्ति के जनक हैं। दोषों की उत्पत्ति के परिणामस्वरूप समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं। कोई ऐसा दुःख है ही नहीं जिसकी उत्पत्ति का कारण कोई दोष नहीं हो। अतः कायोत्सर्ग में अपने शरीर से अतीत निज-स्वरूप में स्थित होते ही इन्द्रियों एवं संसार से असंगता हो जाती है। जिसके होते ही राग-द्वेष, विषय-कषाय का क्षय हो जाता है। विषय-कषाय के क्षय होते ही समस्त दोषों से मुक्ति हो जाती है। निर्दोषता की अनुभूति हो जाती है जिससे परमतत्त्व (परमात्मा) से अभिन्नता हो जाती है। शिवत्व की अनुभूति हो जाती है और दुःखों से सदा के लिए मुक्ति हो जाती है। आत्मारहित देह शव है। देह के सम्बन्ध से रहित आत्मा शिव है। शव (देह) से असंग होते ही स्वतः शिव का संग हो जाता है। यह ही सिद्धत्व है, मुक्ति है।

जैन धर्म में मानव-भव की सार्थकता व सफलता 'मोक्ष प्राप्त करना' कहा है। मोक्ष का अर्थ है—दुःखों व दोषों से सर्वथा मुक्त होना। मोक्ष का मार्ग बताया है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को, यथा—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्गः। सम्यक् दर्शन के अभाव में सम्यक् ज्ञान-चारित्र नहीं होता है। सम्यक् दर्शन का आधार भेद-विज्ञान है, भेद-विज्ञान का अर्थ है—अपने आत्म-स्वरूप को शरीर, संसार आदि से भिन्न समझना और देह से आत्म-स्वरूप के भिन्नत्व का अनुभव करना। देह से आत्म-स्वरूप के भिन्नत्व का अनुभव होना ही कायोत्सर्ग है। इसीलिए जैन धर्म की साधना-पद्धति में कायोत्सर्ग को साधना का चरमोत्कर्ष कहा है। जैन धर्म में सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र नहीं माना है। जिस ज्ञान व चारित्र का लक्ष्य भेद-विज्ञान अर्थात् देह और आत्मा को भिन्न अनुभव करना नहीं है, कायोत्सर्ग नहीं है। वह ध्यान ज्ञान व चारित्र-साधना के अन्तर्गत नहीं आता है।

जैन धर्म में मुक्ति प्राप्ति के उपाय धर्म के तीन मुख्य अंग कहे हैं—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो (दशवैकालिक सूत्र, अ. 1, सू. 1)

अर्थात् धर्म के तीन अंग हैं—अहिंसा, संयम और तप। अहिंसा है किसी जीव को कष्ट नहीं देना, अहितकारी प्रवृत्ति नहीं करना, हितकारी प्रवृत्ति करना। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और शोषण-संग्रह वृत्ति का त्याग करना, करुणा तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना। इनके पालन के बिना संयम नहीं हो सकता। संयम

के लिए इनका पालन अनिवार्य है। संयम है विषय-भोगों का त्याग करना और तप है पूर्वबद्ध विषय-भोगों के संस्कारों (कर्मों) को तोड़ना, उनसे अपने को पृथक् अनुभव करना। तप का प्रारम्भ अनशन से होता है और तप का उत्कृष्ट रूप कायोत्सर्ग है। अनशन, उणोदरी आदि बाह्य तप का फल शरीर और इन्द्रिय के भोगों की दासता से व सांसारिक वस्तुओं से मुक्त होना है अर्थात् स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद करना, असंग-अतीत होना है, बाह्य विकारों पर विजय पाना है। प्रायश्चित्त, विनय-वैयावृत्य आदि आभ्यन्तर तपों से आन्तरिक विकार राग-द्वेष, विषय-कषाय का क्षय करना है। सूक्ष्म शरीर से पृथक्त्व का अनुभव करना है। जिससे चित्त आत्म-स्थ, स्व-स्थ, शान्त व निर्विकल्प होता है, इसे ही असंप्रज्ञात समाधि कहा जाता है। इस शान्ति, समाधि, निर्विकल्प स्थिति के पश्चात् अप्रयत्न—अक्रिय होने पर कार्मण (कारण) शरीर से असंगता होती है। यह ही शरीर का स्थिरीकरण, वाणी का मौन एवं चित्त की एकाग्रता—निर्विकल्पता ध्यानस्थ-स्वरूप ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग से कर्म-निर्जरा

तप के बारह भेदों में से प्रत्येक भेद से कर्मों की निर्जरा होती है। इनमें प्रथम बाह्य तप के छः भेद, विषयों से विरक्ति के साधन हैं और आभ्यन्तर तप के छः भेद कषाय-मुक्ति के विशेष साधन हैं। इनमें स्वाध्याय, ध्यान का आलम्बन है। ध्यान कायोत्सर्ग का अंग है अर्थात् स्वाध्याय और ध्यान कायोत्सर्ग को पुष्ट करते हैं तथा कषाय को क्षय करते हैं। कषाय का क्षय होना ही घाती कर्मों की निर्जरा (क्षय) होना है। यह ही साधना का लक्ष्य है। अतः साधनामय जीवन के विकास में स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग का बड़ा महत्त्व है। यहाँ इन पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है—

स्वाध्याय शब्द स्व और अध्याय, इन दो पदों के मेल से बना है। स्व का अर्थ है—अपना और अध्याय का अर्थ है—अध्ययन करना, जानना अर्थात् स्वयं को जानने का प्रयत्न स्वाध्याय है।

'स्व' वह है जो सदा साथ रहे, कभी अलग न हो, जो साथ न रहकर अलग हो जाता है उसे अन्य या 'पर' कहा जाता है। जो अन्य नहीं है, अनन्य है वही स्व है। इस दृष्टि से विचार करें तो जिस धन, धाम, पत्नी व परिजन को अपना मानते हैं वे भी पर ही हैं, अन्य ही हैं, क्योंकि जीवन में किसी भी समय अथवा मृत्यु आने पर इनका साथ छूट ही जाता है। यही बात शरीर पर भी घटित होती है, अतः धन, जन आदि तो 'पर' हैं ही, तन भी पर ही है।

जीव ज्ञान-स्वभाव वाला है, अतः जानने का कार्य अर्थात् कोई-न-कोई विचार निरन्तर चलता रहता है। जानने का यह कार्य तब तक प्रतिक्षण चलता रहता है, जब तक कि कुछ भी जानना शेष है। जब कुछ भी जानना शेष नहीं रहता अर्थात् अशेष ज्ञान हो जाता है तो जानने का कार्य समाप्त हो जाता है।

विचारणीय यह है कि जीव अनन्तकाल से जानने या विचारने का कार्य करता आया है परन्तु जानने का कार्य अभी तक पूरा नहीं हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव की जानने की क्रिया सही नहीं है, क्योंकि सही क्रिया वह है जो सफल हो अर्थात् जिसके करने से उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति हो जावे, फिर कुछ करना शेष न रहे। जिस क्रिया के करने से कार्य में सफलता न मिले, उस

क्रिया का करना व्यर्थ या मिथ्या है, वह क्रिया सही नहीं है। जैसे सही दवा या उपचार वह है जिससे रोग मिट जावे, फिर दवा और उपचार करने की आवश्यकता न रहे। इसी प्रकार जानने या चिन्तन की सही क्रिया वह है जिससे जिज्ञासा की पूर्ति हो जाये, जानना शेष न रहे।

अनन्तकाल से जानने की क्रिया या प्रयत्न बराबर करते रहने पर भी अभी तक अज्ञानता ज्यों की त्यों विद्यमान है, जानने का कार्य पूरा नहीं हुआ। इससे यह परिणाम निकलता है कि जानने की क्रिया सही (सम्यक्) रूप में नहीं हो रही है, यही वास्तविकता भी है। कारण कि हमने जब भी जानने का प्रयत्न किया तब उसी को जानने का प्रयत्न किया जो 'पर' है, अन्य है, नश्वर है। परन्तु स्व को, शाश्वत को, ध्रुव को जानने का प्रयत्न ही नहीं किया, अर्थात् स्वाध्याय कभी नहीं किया। स्वाध्याय के नाम पर 'पर' का, अन्य का, संसार का अध्ययन ही किया है, क्योंकि पर को ही स्व (निज) रूप मान रहे हैं। इसी भूल के परिणाम से प्राणी दुःखी हो रहे हैं, संसार में परिभ्रमण व जन्म-मरण कर रहे हैं। अतः इस भूल का अन्त करना अति-आवश्यक है। इस भूल का अन्त तब ही सम्भव है जब **स्व और पर के यथार्थ स्वरूप को समझा जाये, स्व को पर से भिन्न समझा जाए।** जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में कहा है–

जीवोऽन्यः पुद्गलाश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥

इष्टोपदेश, 50

अर्थात् जीव पौद्गलिक शरीर से भिन्न है और पुद्गल जीव से भिन्न है। यही ज्ञान तत्त्व का संग्रह है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसी का विस्तार है।

पर से स्व का, अनुभव के स्तर पर भिन्नता का साक्षात्कार करना या दर्शन करना जैन दर्शन में भेद-विज्ञान कहा गया है। इससे ग्रन्थिभेदन होता है। पर के साथ स्व का बन्ध (सम्बन्ध) होना ही ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि के भेदन का अनुभव ही सम्यग्ज्ञान है, सच्चा स्वाध्याय है।

भेदविज्ञान से जैसे-जैसे पर के सम्बन्ध का छेदन होता जाता है, वैसे-वैसे साधक स्वतः स्व में स्थित (स्थिर) होता जाता है, अर्थात् स्व-स्थ होता जाता है। स्व-स्थ होना ही ध्यान है। स्वाध्याय से ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान से कायोत्सर्ग (देहातीत अवस्था) की सिद्धि होती है। स्व-स्थ होना नीरोगता, निर्विकारता का द्योतक है। विकार का ही दूसरा नाम पाप या दुष्कर्म है। विकार

भाव को दूर करना पाप भाव को दूर करना है, अतः विकारों से त्राण ही सच्चा त्राण है। विकार का क्षय ही पापकर्मों का क्षय है यथा–

सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे-रयस्स।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा।।

दशवैकालिक, अ. 7, गाथा 63

अर्थात् जैसे अग्नि से तपाये जाने से चाँदी-सोने का मल शुद्ध होता है वैसे ही स्वाध्याय और ध्यान में रत रहने रूप तप से अपापभाव वाले साधक का पूर्वकृत कर्ममल विशुद्ध हो जाता है।

किसी विषय या वस्तु के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उससे सम्बन्ध स्थापित किया जाये। यही बात स्वाध्याय के लिए भी चरितार्थ होती है। स्वाध्याय है–स्व का अध्ययन करना। स्व के अध्ययन के लिए स्व से जुड़ना आवश्यक है। स्व से जुड़ना तभी सम्भव है जब पर का जोड़ (जुड़ना) छोड़ें, पर का सम्बन्ध तोड़ें। पर से जोड़ होने का कारण है, पर से सुख का भोग करना। पर से सुख चाहने से पर से सम्बन्ध स्थापित होता है। जिससे पर की चर्चा, पर का चिन्तन, पर की चाह, पर की प्राप्ति की प्रवृत्ति होती है। पर की चर्चा, चिन्तन, चाह पराध्याय है। आगम में पर की चाह व चिन्तन को आर्त ध्यान और पर की चर्चा को विकथा कहा है तथा आर्त ध्यान और विकथा को साधक के लिए त्याज्य कहा है। पर की चाह, चिन्तन व चर्चा रूप पराध्याय के त्याग से स्वतः स्व (आत्म)-चिन्तन और स्व (आत्म)-चर्चा होने लगती है। स्व-चिन्तन, स्व-चर्चा अर्थात् आत्म-चिन्तन और आत्म-चर्चा स्वाध्याय है।

स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन से स्व में स्थिरता रूप ध्यान की सिद्धि होती है। इस दृष्टि से स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन रूप स्वाध्याय का साधना के क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है। पर जब तक स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन रूप स्वाध्याय है, तब तक ध्यान नहीं होता। कारण कि चर्चा में जिह्वा और चिन्तन में मन का आश्रय लेना पड़ता है। जिह्वा और मन भी पर (विनाशी) है। अतः इनका आश्रय पराश्रय है। जहाँ पराश्रय है, वहाँ स्व में स्थित (स्थिर) होना नहीं है, अर्थात् ध्यान नहीं है, किन्तु स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन रूप स्वाध्याय ध्यान के सहायक अंग हैं। इसे एक उदाहरण से समझें–

जैसे किसी व्यक्ति को धूम्रपान या मदिरा-सेवन से शारीरिक रोग (विकार) उत्पन्न हुआ, वह अस्वस्थ हो गया। उस व्यक्ति के लिए वह रोग (विकार) बुरा है, हेय है, त्याज्य है। उस विकार को दूर करने के लिए औषधि-सेवन आवश्यक है। इस दृष्टि से औषधि उपादेय है, औषधि का महत्त्व है, परन्तु जब वह विकार

मिट जाता है अर्थात् व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है तो उसे औषधि लेने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार व्यक्ति विषय-विकार से ग्रस्त है, उसमें 'पर'-चर्चा और चिन्तन का राग है, तब तक उसके लिए पर-चर्चा और चिन्तन के निवारण के लिए स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन रूप स्वाध्याय औषधि का सेवन आवश्यक है, यह साधनावस्था है। जब साधक स्वाध्याय-औषधि के फलस्वरूप स्व-स्थ (ध्यान) अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब स्व-चिन्तन, स्व-चर्चा रूप औषधि सेवन करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार स्वाध्याय से ध्यान की उपलब्धि होती है। स्वाध्याय कारण है और ध्यान कार्य।

ध्यान का अर्थ है चित्त को सर्व ओर से हटाकर स्व में स्थित करना। स्व का दर्शन करना। स्व का दर्शन करना ही सत्य का दर्शन करना है। सत्य अर्थात् जो जैसा है, उसके उस वास्तविक स्वरूप का अनुभव करना और उस अनुभव के प्रभाव से राग-द्वेषादि दोषों से दूर होना। ध्यान में चित्त शान्त और समत्व भाव को प्राप्त होता है जिससे शरीर के ऊपरी एवं भीतरी भाग और उन पर होने वाली संवेदनाओं का अनुभव होता है। इन संवेदनाओं में सतत उत्पाद-व्यय होता है। चित्त से देखने पर यह उत्पाद-व्यय और भी अधिक द्रुतगामी होता हुआ अनुभव होता है। ध्यान में जितना-जितना समता व सूक्ष्मता के क्षेत्र की गहराई में प्रवेश होता जाता है, यह उत्पाद-व्यय उतनी ही अधिक शीघ्रता से होता हुआ अनुभव होता जाता है। यहाँ तक कि एक पल में लाखों-करोड़ों बार से भी अधिक उत्पाद-व्यय होता दिखाई देता है। जो इतना परिवर्तनशील, नश्वर है जिसका अस्तित्व क्षणभर के लिए भी नहीं है, ऐसे क्षणभंगुर शरीर व संसार के प्रति कौन पुरुष राग, द्वेष, मोह करना पसन्द करेगा? अर्थात् कोई नहीं करेगा।

अतः बुद्धिमान, प्रज्ञावान पुरुष उत्पाद-व्यय जगत् से अपने को भिन्न, ध्रुव अनुभव कर शरीर, संसार, परिवार आदि के प्रति राग-द्वेष, मोह छोड़कर स्वानुभव की ओर बढ़ता जाता है। यही स्वानुभव की वृद्धि सच्चे अर्थ में ध्यान है। इससे जब सर्व (पर अन्य) पदार्थों और सूक्ष्म शरीर से भी सम्बन्ध छूट जाता है, तो पूर्ण स्वानुभव हो जाता है, यही कायोत्सर्ग साधना की परिसमाप्ति है। इस प्रकार कायोत्सर्ग से 'पर' से हटना, निवृत्त होना संयम या संवर है, और ग्रन्थियों (कर्मों) को तोड़ना, क्षय करना निर्जरा है।

साधक का साध्य है, दुःख से आत्यन्तिक मुक्ति, अविनाशी सुख की उपलब्धि। इस सुख का उपाय है, शरीर और संसार (लोक) से अतीत होना अर्थात् देहातीत और लोकातीत होना। स्व में स्थित होना संसार से परे हटना है। स्व में स्थित होने का परिणाम है—कायोत्सर्ग अर्थात् देहातीत होना। इसीलिए

कायोत्सर्ग को कर्म-निर्जरा की साधना—आभ्यन्तर तप में चरम स्थान दिया गया है। इस प्रकार स्वाध्याय से ध्यान की और ध्यान से कायोत्सर्ग की सिद्धि होती है। ध्यान लोकातीत और कायोत्सर्ग देहातीत अवस्था की उपलब्धि में कारणभूत है। आत्यन्तिक रूप में लोकातीत और देहातीत होना ही मुक्ति है, सिद्धत्व की प्राप्ति है। आन्तरिक स्वस्थता का सुख विषय-विकार के सुख से निराला है। स्व (अविनाशी) से प्रकट होने से यह सुख अविनाशी है। इससे भी अनन्त गुणा अक्षय सुख मुक्ति में है।

इस प्रकार स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग-साधना से कर्म-निर्जरा, शरीर, संसार तथा दुःख से मुक्ति एवं शान्ति, स्वस्थता, अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुख की उपलब्धि होती है। यह ही कायोत्सर्ग का फल है।

कायोत्सर्ग : कर्म-क्षय की साधना

कायोत्सर्ग है सत्य का साक्षात्कार करना, जो जैसा है उसे ठीक वैसा ही अनुभव करना अर्थात् बिना किसी प्रकार की मिलावट, जोड़ व भ्रान्ति के वस्तुस्थिति का, सत्य का साक्षात्कार करना कायोत्सर्ग है। साधारणतः मानव जो कार्य करते हैं वह राग-रंजित, द्वेष-दूषित व मोह-विमूढ़ित (मूर्च्छित) होकर करते हैं। अतः वह शुद्ध साक्षात्कार न होकर राग-द्वेष-मोह से युक्त अशुद्ध साक्षात्कार होता है। इसी अशुद्ध साक्षात्कार का निवारण करने एवं सत्य का साक्षात्कार करने के लिये ध्यान व कायोत्सर्ग-साधना का विधान है।

वस्तु या प्रकृति के स्वभाव को धर्म कहा जाता है—जैसे आग का स्वभाव 'उष्णता' है। यह आग का धर्म है। स्वभाव का साक्षात्कार करना ही धर्म है। अथवा यह कहें कि वस्तु या प्रकृति का वास्तविक रूप ही धर्म है और इस धर्म का साक्षात्कार या अनुभव करना ही धर्म-ध्यान है। सत्य का साक्षात्कार बुद्धिजन्य कल्पनाओं, जल्पनाओं व मान्यताओं से नहीं होता है, अपितु अनुभव से होता है, सत्य पर चलने से होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति जीवन में सत्य को स्थान देता जाता है, उस पर आचरण करता है, चरण बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे उसे सत्य की गहराई व सूक्ष्मता का अधिकाधिक साक्षात्कार होता जाता है। यह नियम है कि जो जितना सूक्ष्म होता है, वह उतना ही विभु व अधिक सक्षम होता है तथा अलौकिक, विलक्षण व अचिंत्य शक्तियों का भण्डार होता है। यही नियम या तथ्य ध्यान पर भी घटित होता है।

ध्यान में जिस सत्य का साक्षात्कार होता है उस पर चलने से प्रकृति के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम सत्यों (सिद्धान्तों, धर्मों व शक्तियों) का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने लगता है और अन्त में अपने ही में विद्यमान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। फिर वह सर्वथा बंधनमुक्त होकर सदा के लिये भव-भ्रमण व दुःख से छुटकारा पा जाता है।

वस्तुतः ध्यान-साधना कोई रहस्य, जादू या चमत्कार नहीं है प्रत्युत सत्य के साक्षात्कार के क्रमिक विकास का सरल, ऋजु व सुगम मार्ग है। इसमें न तो कोई छिपाने की बात है और न कुछ जोड़ने की बात है, न भाषा-ज्ञान की

आवश्यकता है। केवल अपने ही अन्तरंग में विद्यमान दर्शन व ज्ञान की अनुभूति करने के लिये स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना है। वस्तुतः ध्यान अपनी ही अनुभूति से, अपनी भ्रांतियों (मिथ्या मान्यताओं) को मिटाते हुए पूर्ण सत्य, शुद्ध दर्शन व शुद्ध ज्ञान को प्रकट करने का मार्ग है, प्रक्रिया है, जिस पर चलने में मानव-मात्र समर्थ व स्वाधीन है। भले ही वह किसी जाति का हो, किसी भी देश का हो, कोई भी व्यवसाय करने वाला हो, किसी भी आयु का हो, किशोर हो, युवा हो, वृद्ध हो, विद्वान हो, निरक्षर हो, धनवान हो, निर्धन हो, स्त्री हो, पुरुष हो।

ध्यान-साधना से किस प्रकार कर्म क्षय होकर दुःख से मुक्ति मिलती है, इस पर प्रकाश डाला जा रहा है।

चित्त की स्थिरता

चित्त को स्थिर करने का प्रारम्भिक उपाय है चित्त को श्वास के आवागमन पर लगाना। इससे चित्त का भटकना रुक जाता है, चित्त स्थिर हो जाता है। फिर श्वास पर स्थिर चित्त को शरीर की त्वचा (चमड़ी) पर लगाया जाता है। चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता के कारण त्वचा पर होने वाली क्रियाओं (संवेदनाओं) का अनुभव होने लगता है। चित्त को आगे बढ़ाते हुए सिर से पैर तक, पैर से सिर तक सारे शरीर की संवेदनाओं को बार-बार देखने से चित्त की स्थिरता, समता व सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। निरन्तर अभ्यास करने से यह वृद्धि अधिकाधिक होती जाती है।

समता

ध्यान में शरीर के बाहरी व भीतरी भाग के सूक्ष्म स्तरों पर चित्त को लगाने से वहाँ उत्पन्न होने वाली अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनाओं का अनुभव होता है। यदि चित्त उन अनुकूल संवेदनाओं में राग और प्रतिकूल संवेदनाओं में द्वेष करने लगता है, उनमें हर्ष व दुःख का भोग करने लगता है तो चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता खो जाती है, चित्त चंचल व स्थूल हो जाता है। परन्तु उन अनुकूल-प्रतिकूल, सुखद-दुःखद संवेदनाओं का अनुभव करते हुए राग-द्वेष न करके केवल उनको देखते रहने से समभाव प्रगाढ़ होता है, संयम स्वयं उद्‌भूत होता है और मन, वचन व काया की प्रवृत्तियों का संवर होता है।

दर्शनावरणीय कर्म का क्षय

दर्शन है चित्त के निर्विकल्प होने पर चैतन्य (चिन्मयता) का, संवेदनशीलता का अनुभव होना। निर्विकल्पता चित्त के शान्त, स्थिर व सम होने

पर होती है। ध्यान में चित्त की शान्ति, समता, स्थिरता, सूक्ष्मता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही संवेदनाओं के अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है। अर्थात् दर्शन का आवरण क्षीण होता जाता है और दर्शन या अनुभव स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम रूप में विकसित होता जाता है। हमारे शरीर में व त्वचा पर प्रत्येक स्थान व प्रत्येक अणु पर निरन्तर किसी-न-किसी प्रकार की क्रियाएँ चालू रहती हैं। परन्तु हमारे दर्शन (अनुभव) की शक्ति विकसित न होने से, दर्शन पर आवरण आने से उन क्रियाओं से जनित संवेदनाओं का हम दर्शन (साक्षात्कार) नहीं कर पाते हैं। ध्यान-साधक का चित्त आनापानसति से निर्विकल्प होता है तब उसे पहले शरीर के बाहरी स्तर पर होने वाली संवेदनाओं का दर्शन होने लगता है। फिर जैसे-जैसे संयम या संवर या समताभाव बढ़ता जाता है; वैसे-वैसे दर्शनावरण हटता जाता है जिससे शरीर में मांस, रक्त, हड्डियों में उत्पन्न होने वाली क्रियाओं, तरंगों का संवेदन या अनुभव होने लगता है। यहाँ तक कि शरीर में होने वाली रासायनिक परिवर्तन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं, विद्युत-चुम्बकीय लहरों का भी दर्शन होने लगता है। इस प्रकार दर्शन की शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तर पर प्रकट होने लगती है। फिर ध्यान-साधक का जैसे-जैसे समता, संयम, संवर का स्तर ऊँचा होता जाता है, बढ़ता जाता है; दर्शनावरणीय कर्म की निर्जरा होती जाती है, जिससे दर्शन की शक्ति प्रकट होकर व्यक्त चित्त में उठने वाली लहरें, उससे बँधने वाले कर्म, अवचेतन मन में उठने वाली लहरें तथा उससे भी सूक्ष्म स्तर पर स्थित अपने पूर्वजीवन में संचित संस्कारों, कर्मों व ग्रन्थियों का दर्शन करने लगता है। इस प्रकार संवर व निर्जरा जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तो दर्शन के समस्त आवरण व पर्दे हट जाते हैं, क्षय हो जाते हैं, जिससे उसका दर्शन पूर्ण विशुद्ध "केवल-दर्शन" हो जाता है।

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय

ज्ञान अनेक प्रकार का होता है, यथा इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला शब्द वर्ण, गंध, रस व स्पर्श का ज्ञान, चिन्तन व बुद्धिजन्य ज्ञान आदि। परन्तु इन ज्ञानों से चेतना के स्थूल व बाहरी स्तर का ही बोध होता है, चेतना की यथार्थता, जो सूक्ष्म व आंतरिक स्तर पर होती है, उसका बोध नहीं होता। यह अयथार्थ ज्ञान हितकारी व कल्याणकारी नहीं होता है अतः इसे असम्यक् ज्ञान या मिथ्या ज्ञान कहा है।

ध्यान से जैसे-जैसे दर्शन पर आए आवरण क्षीण होते जाते हैं, समताभाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अनुभव-शक्ति बढ़ती जाती है। उस अनुभव से होने वाला ज्ञान यथार्थ (भ्रांति-रहित), सत्य व कल्याणकारी होता है। ऐसा ही ज्ञान

'प्रज्ञा' या 'सम्यक् ज्ञान' कहा जाता है। इस यथार्थ, सत्य ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रिय-बुद्धिजनित ज्ञान भी सम्यक् होता जाता है।

ध्यान-साधक दर्शन या अनुभव के स्तर पर प्रत्यक्ष देखता है कि केवल बाहरी स्थूल जगत् ही नहीं बदल रहा है, बल्कि हमारे शरीर की त्वचा, रक्त, मांस, हड्डियों में भी प्रतिक्षण परिवर्तन, बदलाव, उत्पाद-व्यय हो रहा है। यह परिवर्तन सूक्ष्म लोक (जगत्) में और भी अधिक तेजी से व शीघ्रता से हो रहा है। शरीर के उपरिभाग से भीतरी भाग में, शरीर में उत्पन्न संवेदनाओं व विद्युत चुम्बकीय लहरों में, मन में, अवचेतन मन में क्रमशः सैकड़ों-हजारों गुना अधिक से अधिक द्रुतगति से परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) हो रहा है। यहाँ तक कि लोक के सूक्ष्म स्तर पर तो यह उत्पाद-व्यय एक पल में करोड़ों-अरबों से भी अधिक बार प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

इस प्रकार ध्यान-साधना से जैसे-जैसे दर्शन के आवरण क्षीण होते जाते हैं, वैसे-वैसे संसार की अनित्यता का प्रत्यक्ष दर्शन (साक्षात्कार) होता जाता है। ऐसे अनित्य संसार में आत्मबुद्धि रखना, उसे अपना मानना, उससे रक्षण व शरण की आशा करना अज्ञान है। संसार में शरणभूत कुछ भी नहीं है। प्रकृति की उत्पाद-व्यय प्रक्रिया से उत्पन्न रोग, जरा, मृत्यु या वियोग से कोई किसी को नहीं बचा सकता है। इस प्रकार ध्यान-साधक संयोग में वियोग, जीवन में मृत्यु, आशा में निराशा का दर्शन करने लगता है। इससे उसमें तन, मन, धन, जन आदि समस्त परिवर्तनशील अनित्य वस्तुओं के प्रति ममत्व व अहंत्व हटकर अनात्मभाव की जागृति होती है। वह अपनी अनुभूति के आधार पर यह भी जानता है कि रोग, बुढ़ापा, इन्द्रियों की शक्ति-क्षीणता, मृत्यु, अभाव, वेदना, पीड़ा आदि तो दुःख हैं ही, परन्तु संसार में जिसे सुख कहा जाता है वह भी दुःख-रूप ही है। कारण कि वह सुख राग व मोहजनित होता है। राग चित्त में असंख्य लहरें या तूफान उठने का रूप है। यह राग का तूफान समता के सागर की शान्ति को भंग कर अशान्ति, आकुलता, तनाव, आतुरता व जड़ता उत्पन्न करता है व मूर्च्छित बनाता है। इस प्रकार वह भोगों के सुख में दुःख का दर्शन करने लगता है। वह देखता है कि संसार में सर्वत्र, सर्वस्थितियों एवं परिस्थितियों में दुःख ही दुःख है। इस प्रकार इस अनित्य, अशरण, दुःखद संसार से सम्बन्ध स्थापित करना, इससे सुख भोगना अज्ञान है, भंयकर भूल है।

ध्यान-साधक यह भी देखता है कि संसार की उत्पत्ति-विनाश स्वरूप प्रत्येक घटना कारण और कार्य के नियमानुसार घट रही है। कोई भी घटना अप्रत्याशित, आकस्मिक या अनहोनी नहीं घटती है। जो कुछ भी हो रहा है वह

कारण के अनुसार कार्य होता है। कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। अर्थात् जो भी सुखद-दुःखद स्थिति प्राप्त होती है वह अपने ही कर्म का फल है। अतः उसमें न तो शिकायत या शोक की गुंजाइश है और न हर्ष को अवकाश है। उस घटना या परिस्थिति को भला-बुरा मानना या कोसना व उसके प्रति राग-द्वेष करना अज्ञान है।

इस प्रकार सूक्ष्म दर्शन या साक्षात्कार की प्रगति से साधक की प्रज्ञा बढ़ती जाती है। उसे लोक के सूक्ष्म तथा गहन नियमों का ज्ञान अधिक से अधिक होता जाता है। उसे ग्रंथि-बंध, कर्म-विपाक, जन्म-मरण, संवर, निर्जरा, विमोक्ष आदि का प्रत्यक्ष व स्पष्ट ज्ञान होने लगता है। जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना ही विभु व शक्तिशाली होता है। इस नियम के अनुसार सूक्ष्म तत्त्वों के प्रत्यक्षीकरण से सीमित व विकृत ज्ञान विशद् एवं शुद्ध होता जाता है। अंत में ज्ञान पर से सर्वआवरण हटकर व क्षय होकर असीम, अनन्त, निर्मल 'केवलज्ञान' प्रकट हो जाता है।

मोहनीय कर्म का क्षय

ध्यान के अभ्यास से जैसे-जैसे समता व सूक्ष्म अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे राग-द्वेष-मोह आदि से उठने वाली लहरों व संवेदनाओं का प्रत्यक्ष दर्शन (अनुभव) होने लगता है। साधक यह भी देखने लगता है कि राग-द्वेष से नवीन ग्रंथियों का निर्माण होता है। ये ग्रंथियाँ समय पाकर उदय में आकर फल देती हैं - इनसे तन-मन, सुख-दुःख का सर्जन होता है। जन्म-मरण व सुखद-दुःखद संवेदनाओं के प्रति प्रतिक्रिया करने से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, जिनसे नवीन ग्रंथियों का निर्माण होता है। फिर सुखद-दुःखद संवेदनाओं की उत्पत्ति होती रहती है और इस प्रकार उत्पत्ति-विनाश का, जन्म-मरण का यह क्रम बार-बार चलने लगता है। इस प्रकार भव-भ्रमण अनंत काल से चल रहा है। साधक यह भी अनुभव करने लगता है कि लहर द्वेष की उठे या राग की उठे अथवा अन्य किसी भी प्रकार की उठे, उससे समताजनित शान्ति, सुख, स्वाधीनता, संतुष्टि लोप हो जाती है और अशान्ति, क्षुब्धता व आकुलता, आतुरता आदि दुःखों का उदय हो जाता है। इस प्रकार जहाँ वह साधक पहले राग, द्वेष, मोह, हिंसा, झूठ आदि दोषों में सुख का आस्वादन करता था वहाँ अब इनमें दुःख का अनुभव करने लगता है। साधक इस परिणाम पर पहुँचता है कि दुःख या भव-चक्र-भेदन का एक ही उपाय है कि नवीन ग्रंथियों का निर्माण न हो और पुरानी ग्रंथियों का भेदन हो जाये, उदीरणा होकर उनकी निर्जरा हो जाये।

नवीन ग्रंथियों का निर्माण, पुराने कर्म के फल भोगते समय राग-द्वेष रूपी प्रतिक्रिया करने से होता है। अतः नवीन ग्रंथियों के निर्माण को रोकने का एक ही उपाय है कि पुराने कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न सुखद संवेदनाओं के प्रति राग न करे, दुःखद संवेदनाओं के प्रति द्वेष न करे अर्थात् समता (द्रष्टाभाव) में रहे। इस प्रकार समता में रहने से नवीन ग्रंथियों (कर्मों) का निर्माण रुक जाता है।

पुरानी ग्रंथियों (कर्मों) के नाश का उपाय है ग्रंथियों का भेदन करना। तन, मन, धन, जन आदि सबसे आसक्ति (राग-द्वेष) छोड़ना; यह स्थूल ग्रंथि-भेदन है। सूक्ष्म शरीर, चित्त, अवचेतन मन आदि के स्तर पर प्रकट व उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं (ग्रंथियों) का धुन-धुनकर विभाजन करना, टुकड़े-टुकड़े करना, यह सूक्ष्म ग्रंथियों का भेदन है। इस ग्रंथि-भेदन से पुराने कर्मों के समुदाय की तीव्रता के साथ उदीरणा होकर निर्जरा होती है।

इस ग्रंथि-भेदन में ध्यान (चित्त की एकाग्रता), स्वाध्याय (स्व का अध्ययन, स्वानुभव), कायोत्सर्ग से सूक्ष्मतर स्तर पर तन-मन का उत्सर्ग करना, अहंभाव का विसर्जन व व्युत्सर्ग करना होता है। इससे राग-द्वेष व मोह पर विजय प्राप्त होने लगती है अर्थात् राग, द्वेष, माया-मोह के प्रवाह का प्रभाव घटता जाता है। यह विजय साधक के उत्साह, सुख, समता, शान्ति, स्वाधीनता को बढ़ाती है जिससे उसमें राग, द्वेष पर अधिक विजय पाने का पुरुषार्थ जगता है। इस प्रकार धर्मचक्र से वह धीरे-धीरे समता की चरम अवस्था में पहुँचकर राग, द्वेष, मोह आदि विकारों पर पूर्ण विजय पाकर वीतराग, वीतद्वेष हो जाता है। उसके मोह का पूर्ण क्षय हो जाता है, उसका कर्तृत्व व भोक्तृत्व समाप्त हो जाता है।

अन्तराय कर्म का क्षय

जिससे जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इन पाँच स्वाभाविक उपलब्धियों गुणों में विघ्न व बाधा उत्पन्न हो, वह अंतराय कर्म है। जीव का दान-गुण उदारता व प्रीति के सुख की उपलब्धि का सूचक है। लाभ-गुण निर्लोभता से आविर्भूत संतोष संपत्ति की उपलब्धि का व्यक्तक है। भोग-गुण विषय-भोग के सुखों के त्याग से अर्थात् निर्ममता से प्राप्त स्वाधीनता के अखण्ड, पूर्ण सुख के भोग की उपलब्धि का द्योतक है। उपभोग-गुण विषय-सुखों के उपभोग के त्याग से अर्थात् निरहंकारता से आविर्भूत स्वाभाविक आत्मीयता व प्रियता के नित-नूतन, अनवरत, अनंत सुख के उपभोग की उपलब्धि का एवं वीर्य-गुण कर्तृत्वभाव रहित होने से आविर्भूत दोषों के

विनाशक सामर्थ्य गुण की उपलब्धि का सूचक है। इन पाँचों गुणों की उपलब्धि निर्दोषता से प्रकट स्वभाव की अभिव्यक्तक है। समस्त स्वाभाविक गुणों में बाधा उत्पन्न होती है विभाव से। विभाव से जीवन स्वभाव से विमुख हो जाता है। यह विमुखता ही अंतराय कर्म है।

विभाव की उत्पत्ति का मूल कारण है विषय-भोगों के सुख का प्रलोभन। विषय-सुख के इच्छुक जीव में स्वार्थपरता का दोष उत्पन्न होता है जो उदारता-गुण का अपहरण कर दानान्तराय उत्पन्न कर देता है। उसमें इन्द्रिय-विषयों के भोग-उपभोग की भोग्य वस्तुओं को प्राप्त व संग्रह करने की इच्छा उत्पन्न होती है जो निज स्वभाव के भोग-उपभोग के सुख का अपहरण कर भोगान्तराय-उपभोगान्तराय कर्म को उत्पन्न कर देती है। भोगी जीव अपने सामर्थ्य का उपयोग व उपभोग विषय-भोगों एवं उनकी भोग्य सामग्री की प्राप्ति में करता है, उसका यह भोक्तृत्व व कर्तृत्व भाव दोषों के त्यागने के सामर्थ्य का अपहरण कर वीर्यान्तराय कर्म को उत्पन्न कर देता है। प्रकारान्तर से कहें तो विषय-भोगों की इच्छा व उनका भोग आत्मा को बहिर्मुखी बनाता है जिससे आत्मा निज-स्वभाव में रमण रूप भोग-उपभोग के सुख से विमुख व वंचित हो जाती है। निज-स्वरूप के अक्षय-अखण्ड-अनन्त सुख से वंचित होना ही अंतराय कर्म का उदय है। अतः जितनी-जितनी विषय-भोगों की, सुख की इच्छा व दासता घटती जाती है उतना ही उतना अंतराय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है। विषय-सुख के पूर्ण त्याग होते ही अंतराय कर्म का क्षय हो जाता है।

सांसारिक पदार्थों व भोगों की इच्छा उत्पन्न होते ही चित्त चंचल व चलायमान हो जाता है, जिससे चित्त की शान्ति, स्थिरता व समता भंग हो जाती है। किसी भी जीव की सभी इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती हैं। एक इच्छा की पूर्ति होते ही उसकी पूर्ति का सुख कुछ ही क्षणों में विलीन हो जाता है, नीरसता उत्पन्न हो जाती है। इस नीरसता से ऊबकर सुख पाने के लिए नई इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार इच्छाओं की अपूर्तिजनित अभाव सदा बना रहता है। अभाव का अनुभव होना ही अंतराय का सूचक है। विषय-भोग के सुख में व भोगों की इच्छा में आकुलता रहती है। ध्यान-साधना से साधक अंतर्मुखी हो निर्विकल्पता के, निराकुलता के सुख का अनुभव करता है। निराकुलता के व शान्ति के सुख की अनुभूति से विषय-भोगों के आकुलतायुक्त सुख में दुःख का अनुभव होता है। यह अनुभव जितना-जितना गहरा होता जाता है उतना-उतना विषय-सुखों में असह्य दुःख का अनुभव होता है और अंत में विषय-सुख का प्रलोभन व दासता सदा के लिये मिट जाती है, जिससे अंतराय कर्म का क्षय होकर अनन्त दान,

अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग एवं अनन्त वीर्य की उपलब्धि व अनुभूति हो जाती है।

ध्यान-साधना से जैसे-जैसे राग-द्वेष-मोह घटते जाते हैं, समताभाव बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे अनुभव के क्षेत्र में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रगति होती जाती है तथा आंतरिक शक्तियाँ व अनुभूतियाँ विशेष रूप से प्रकट होती जाती हैं। आंतरिक शक्ति के बढ़ने से उसका पुरुषार्थ–वीर्य बढ़ता है जो उत्साह के रूप में प्रकट होता है और उद्देश्य या लक्ष्य की सिद्धि या सफलता प्राप्ति में सहायक होता है।

आंतरिक शक्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे अधिक से अधिक सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूति बढ़ती जाती है जो समत्व व प्रीति व प्रमोद के रूप में व्यक्त होती है।

ध्यान-साधना से विरतिभाव बढ़ता है जो कामनाओं, वासनाओं, कृत्रिम आवश्यकताओं को घटाता है। इनकी उत्पत्ति न होने से साधक को कामना की पूर्ति-अपूर्ति से उत्पन्न होने वाला दुःख नहीं भोगना पड़ता। संतुष्टि व तृप्तिभाव की अभिवृद्धि होती है तथा उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः हो जाती है। यह प्राकृतिक नियम है कि जो प्राप्त का सदुपयोग करता है उसे उससे अधिक हितकर वस्तुओं की प्राप्ति अपने-आप होती है। अभाव का दुःख उसे पीड़ित नहीं करता। उसका चित्त सदा समृद्धि से भरा होता है।

ध्यान-साधना से जैसे-जैसे राग पतला पड़ता जाता है वैसे-वैसे स्वार्थपरता, संकीर्णता घटती जाती है; सेवाभाव, करुणाभाव, परोपकार और दान की भावना बढ़ती जाती है।

जैसे-जैसे विषय-सुखों के भोग-उपभोग की दासता, राग-द्वेष-मोह क्षीण होता जाता है वैसे-वैसे भोगान्तराय-उपभोगान्तराय आदि अंतराय कर्म क्षीण होते जाते हैं और आंतरिक व आत्मिक सद्गुणों की व निज-स्वरूप के भोग-उपभोग के सुख की अधिकाधिक अभिवृद्धि होती जाती है। पूर्ण वीतराग अवस्था में ये गुण असीम व अनन्त हो जाते हैं।

इस प्रकार ध्यान-साधना से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराय कर्म क्षीण होते हैं। इन चारों का परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि इनमें किसी एक कर्म के क्षीण होने का प्रभाव शेष तीन कर्मों पर भी पड़ता है और उनमें भी क्षीणता आती है।

उपर्युक्त चार घाती कर्मों के अतिरिक्त नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय—ये चार अघाती कर्म और हैं। ये कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि भौतिक या बाहरी पदार्थों से संबंधित हैं। यह नियम है कि भीतरी स्थिति के अनुरूप ही बाहरी स्थितियों एवं परिस्थितियों का निर्माण होता है या यों कहें कि चेतना की सूक्ष्म शक्तियों व गुणों के न्यूनाधिकता के अनुरूप ही प्रकृति भौतिक पदार्थों, शरीर, इन्द्रिय आदि की संरचना करती है, यही नामकर्म है। नामकर्म से उत्पन्न शरीर के टिकने की अवधि आयुकर्म है। उच्च-नीच अर्थात् दीनता व अभिमान (मद) का भाव होना गोत्रकर्म है और शरीर व चित्त आदि के माध्यम से होने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाएँ वेदनीय कर्म है। इन चारों अघाती कर्मों की पाप-प्रकृतियों की उत्पत्ति का कारण भी राग, द्वेष, मोह आदि दोष ही हैं। ये दोष जैसे-जैसे घटते व हटते जाते हैं, आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है। पाप-प्रकृतियों का बंध रुकता जाता है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय—इन चार घाती कर्मों के क्षय होने के पश्चात वेदनीय कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और आयुकर्म—ये चारों अघाती कर्म शेष रह जाते हैं। ये कर्म अघाती होने से जीव के किसी गुण का घात करने में समर्थ नहीं हैं। अतः इनके क्षय करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी इन कर्मों की शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियाँ हैं जिन्हें पुण्य-पाप प्रकृतियाँ कहा जाता है। इनमें से पुण्य-प्रकृतियों का क्षय किसी भी साधना से सम्भव नहीं है अपितु साधना से इन पुण्य-प्रकृतियों का अर्जन होता है एवं इनके अनुभाग में वृद्धि होती है। अतः इनके क्षय की आवश्यकता भी नहीं है। शेष रही इनकी अशुभ-अप्रशस्त पाप-प्रकृतियाँ। पाप-प्रवृत्तियों के बंध का अवरोध कषाय की क्षीणता व क्षय से होता है।

क्रोध कषाय (क्रूरता, निर्दयता) के निवारण व क्षयोपशम से सातावेदनीय पुण्य-प्रकृति का; मान कषाय के क्षयोपशम से, मद न करने से, मृदुता से उच्चगोत्र पुण्य-प्रकृति का; माया कषाय के क्षयोपशम से, ऋजुता से शुभ नामकर्म की पुण्य-प्रकृतियों का एवं लोभ कषाय के क्षयोपशम से देव, मनुष्य, आयु, पुण्य-प्रकृति का बंध होता है। कायोत्सर्ग से कषाय क्षय होता है जिससे अघाती कर्मों की पाप-प्रकृतियों के बंध का अवरोध होता है एवं पुण्य-प्रकृतियों का उपार्जन व उदय होता है। जिन साधकों ने कायोत्सर्ग-साधना से चारों कषायों का पूर्ण क्षय कर दिया है। उनके उपर्युक्त समस्त पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है। ये शुभ (पुण्य) कर्म-प्रकृतियाँ आत्मा की शुद्धता की सूचक हैं। अतः इन्हें क्षय करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

कायोत्सर्ग : दुःख-विमुक्ति का उपाय

उत्तराध्ययन सूत्र के छब्बीसवें अध्ययन सामाचारी की सैंतालीसवीं गाथा में कायोत्सर्ग को सर्वदुःखों से मुक्त करने वाला कहा है, यथा--

आगए काय-वोसग्गे, सव्व दुक्ख विसोक्खणे।
काउसग्गं तओ कुज्जा, सव्व दुक्ख विमोक्खणं।।

सर्वदुःखों से छुटकारा दिलाने वाले कायोत्सर्ग का समय आने पर सर्वदुःखों से विमुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे। इसी अध्ययन में गाथा 38, 42 और 50 में कायोत्सर्ग को सर्वदुःखों से छुटकारा करने वाला कहा है।

दुःख किसी को भी पसंद नहीं है। दुःख उसी को भोगना पड़ता है जो विषय-सुख का भोगी है। अतः दुःख से छूटने का एक ही उपाय है कि सुख-भोग का त्याग करें। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सुख का त्याग कर दें तो फिर जीवित रहने का अर्थ ही क्या रह जाता है। क्योंकि सुख-रहित जीवन किसी को भी इष्ट नहीं है। सुख के बिना जीवन व्यर्थ है। अतः हमें सुख चाहिये।

इस प्रकार दो स्थितियाँ हमारे सामने हैं। एक तो यह है कि सुख के भोगी को दुःख भोगना पड़ता है और हमें दुःख पसंद नहीं है। और दूसरी यह है कि यदि हम सुख को त्याग दें तो सुख-रहित जीवन भी हमें पसन्द नहीं है। अतः जिज्ञासा होती है कि ऐसी दुविधामय स्थिति से छुटकारा कैसे मिले? इसका समाधान यही हो सकता है कि हमें ऐसा सुख मिले जो दुःखरहित हो।

दुःखरहित सुख प्राप्ति के लिये सुख पर विचार करना होगा। सुख दो प्रकार के हैं--एक है इन्द्रिय भोग से प्राप्त विषय-सुख जैसे इष्ट पदार्थ का मिलना, खाना, पीना, पहनना, सूँघना, देखना आदि से मिलने वाला इन्द्रिय सुख और दूसरा सुख है शान्ति, समता, मैत्री, उदारता, स्वाधीनता आदि गुणों से मिलने का रस या सुख। जब चित्त शान्त होता है तो उसका अपना एक रस है, सुख है। जब हम सेवा द्वारा किसी का दुःख दूर करते हैं जिससे उसे जो सुख होता है, प्रसन्नता होती है, उससे हमें भी प्रमोद होता है, प्रीति होती है। यह भी एक सुख है। संसार और शरीर से असंग होने से स्वाधीनता का, मुक्ति का जो अनुभव होता है उसका भी अपना सुख है।

प्रथम प्रकार का सुख, जो इन्द्रिय-भोग से संबंधित है, इसकी प्रतीति कामनापूर्ति से होती है। इस सुख में प्रारम्भ से अंत तक पराधीनता, परवशता, विवशता, जड़ता, मूढ़ता, नीरसता, शक्ति-क्षीणता, अभाव आदि संसार की समस्त अनिष्ट स्थितियाँ जुड़ी रहती हैं तथा समस्त दुःखों का मूल भी यही सुख है। संसार में कोई भी दुःख ऐसा नहीं है जिसका कारण विषय-भोग का सुख न हो। यह अटल नियम है कि जहाँ विषय-सुख का भोग होगा, वहाँ दुःख रहेगा ही। अतः दुःख-रहित सुख, विषय-सुख के त्याग से ही संभव है, विषय-सुख के भोग से कभी संभव नहीं है।

विषय-सुख को त्यागने के उपाय हैं–विषय-भोग की कामनाओं का त्याग, विषय-भोग की सामग्री की ममता व उनके प्रति अपनेपन का त्याग; प्राप्त सामग्री व बल का भोग स्वयं न कर उसे परसेवा में लगा देना। विषय-भोग की कामनाओं के त्याग से शान्ति का सुख, ममता-त्याग से मुक्ति (स्वाधीनता) का सुख तथा सेवा भाव से प्रीति का सुख मिलता है। शान्ति, मुक्ति व प्रीति का सुख, दुःख-रहित सुख है। शान्ति, मुक्ति और प्रीति की अनुभूति कायोत्सर्ग से होती है। यहाँ इसी पर विचार करना है।

कायोत्सर्ग में साधक प्रथम श्वास पर चित्त एकाग्र करता है जिससे चित्त की अस्थिरता, चंचलता, अशान्ति मिट जाती है और शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है। चित्त की शान्ति का भी एक रस है, सुख है, जो विषय-रस या सुख से भिन्न है। इससे आगे बढ़कर साधक जब ध्यान से अंतर्मुखी होता है तो वह शरीर, चित्त एवं चित्त में उठने वाले विकारों एवं संवेदनाओं का द्रष्टा बन जाता है, कर्ता-भोक्ता नहीं रहता। द्रष्टा बनने से दृश्य की अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। फलतः वह अनुकूलता-प्रतिकूलता में सुखी-दुःखी नहीं होता। अर्थात् सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है। इस मुक्ति का भी अपना रस है जो शान्ति के रस से विशेष प्रकार का है। इस रहस्य को कायोत्सर्गकर्ता साधक ही जानता है। शान्ति और मुक्ति के रस के साथ प्रीति की जागृति होती है। प्रीति के रस का सुख निराला ही होता है।

शान्ति, मुक्ति और प्रीति का सुख विषय-सुख से सर्वथा भिन्न होता है। वह सुख स्वाधीनता, चिन्मयता, निराकुलता व संतुष्टियुक्त होता है। जबकि विषय-सुख अभाव, पराधीनता, जड़ता आदि दोषों से युक्त होता है। यह नियम है कि ऐन्द्रिय सुख प्रतिक्षण क्षीण होता है और अंत में इस सुख की परिणति नीरसता में होती है। उदाहरणार्थ कैसा ही स्वादिष्ट भोजन हो, कैसा ही मधुर संगीत हो, खाते-खाते व सुनते-सुनते ऊब ही जाते हैं। ऊब या नीरसता मिटाने

के लिये विषय-सुख का भोगी फिर नवीन विषय-सुख पाने के लिए नई कामना करता है। उसकी पूर्ति करके उसका सुख भोगता है। जिसका अंत पुनः नीरसता में होता है। इस प्रकार नीरसता दूर करने के लिये, निरन्तर कामना की उत्पत्ति-पूर्ति का चक्र चलता ही रहता है। इस नीरसता का निवारण करना, उसकी जड़ उखाड़ना ही इस चक्र से छुटकारा पाना है।

नीरसता दूर करने का वास्तविक उपाय है ऐसे रस की उपलब्धि होना, जो क्षणिक न हो, क्षीण न हो। शान्ति, मुक्ति और प्रीति का रस ऐसा ही रस है। कारण कि यह रस न तो किसी अनित्य व अनात्म पदार्थ से पैदा होता है और न किसी अनित्य व अनात्म पदार्थ पर निर्भर करता है। यह रस स्वरस है, अतः स्वाधीन है। किसी देश, काल व पदार्थ/पुद्गल के आधीन नहीं है। अतः यह रस अक्षुण्ण रहने वाला है। इसका अन्त कभी नीरसता में नहीं होता। प्राणी अपनी ही भूल से, भ्रान्ति से, विषय-सुख में, जो वस्तुतः सुखाभास है, पराधीनता, आकुलता आदि दोषों या दुःखों से युक्त है, उस सुख को पाने की कामना करता है जिससे वह शान्ति के सुख से विमुख हो जाता है। वह ममता करता है जिससे मुक्ति (स्वाधीनता) के रस से विमुख हो जाता है।

आशय यह है कि विषय-सुख ही समस्त दोषों व दुःखों का बीज है। यह बीज नीरसता की भूमि में उपजता है। अर्थात् नीरसता की भूमि में विषय-सुख की कामना उत्पन्न होती है। विषय-सुख की कामना व भोग की इच्छा तभी मिट सकती है जब प्राणी को ऐसा सुख मिले जो अनित्य व अनात्म पदार्थों पर निर्भर न हो। वह स्वरस ही हो सकता है। उस स्वरस की अनुभूति शान्ति, मुक्ति व प्रीति के रूप में होती है। अतः साधक स्वरस प्राप्त कर विषय-सुखों पर विजय प्राप्त करता है। जिसे स्वरस नहीं मिलता वह कितने ही उपाय करे, सहस्रों ग्रन्थ पढ़े, कामनाओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। उसका चित्त कामना-उत्पत्ति से अशान्त होगा ही, ममता से पराधीन होगा ही, स्वार्थपरता से संकीर्ण होगा ही, किन्तु अशान्ति, पराधीनता किसी को भी इष्ट नहीं हैं।

समस्त विषय-सुख इन्द्रिय-भोगों से संबंधित हैं, अतः एक ही जाति के हैं। जबकि स्वरस अनेक प्रकार के हैं, उनमें शान्ति, मुक्ति, प्रीति के रस मुख्य हैं। इनकी अनुभूति से ही नीरसता का अन्त संभव है। शान्ति के सुख की अनुभूति कामना-निवृत्तिजन्य चित्त की स्थिरता से ही संभव है। शान्ति व विश्रांति की भूमि में ही शक्ति का प्रादुर्भाव एवं विवेक की जागृति होती है। मुक्ति (स्वाधीनता) की अनुभूति शरीर और संसार के प्रति रहे हुए अपनेपन (ममत्व) के त्याग से होती है जो शरीर-व्युत्सर्ग और संसार-व्युत्सर्ग से सहज सम्भव है।

मुक्ति की अनुभूति में ही जागृति, चिन्मयता, सजगता का आविर्भाव होता है। कायोत्सर्ग की साधना से राग, द्वेष, मोह आदि विकारों से ग्रस्त दुःखी प्राणियों के प्रति करुणाभाव जागता है। करुणा भाव से प्रीति, प्रमोद, मैत्री भाव का उदय होता है। कामना व ममता-त्याग से स्वार्थपरता व स्वामित्वभाव मिट जाता है जिससे उदारता व प्रीति के रस की गंगा बहने लगती है। इस प्रकार कायोत्सर्ग की साधना से साधक का मैत्री, प्रमोद, करुणा व माध्यस्थ (उपेक्षा-विराग) भाव व सर्वहितकारी प्रवृत्तिमय जीवन बन जाता है। उससे निज-रस आने लगता है, जिससे विषय-सुख व नीरसता का अन्त स्वतः हो जाता है। फलस्वरूप कामना, वासना, ममता, अहंता आदि विकार गल जाते हैं।

शान्ति, मुक्ति, प्रीति, मैत्री, प्रमोद, करुणाभाव के रस के अभाव में केवल सिद्धान्तों की चर्चा व चिंतन से नीरसता व विषयभोग की वासना का अन्त कदापि संभव नहीं है। विषय-सुख के भोगी को अशान्ति, पराधीनता, अभाव, तनाव, रोग, शोक, जन्म, जरा, मरण आदि दुःख भोगने ही पड़ते हैं, यह प्राकृतिक विधान है जिसे टालने में कोई भी समर्थ नहीं है। इन अनिष्ट स्थितियों व दुःखों से मुक्ति पाने के लिये ध्यान व कायोत्सर्ग साधना को अपनाना ही पड़ेगा, अतः राग, द्वेष, मोह आदि विकारों का नाश कर दुःखरहित शाश्वत सुख पाने के लिये कायोत्सर्ग साधना करने में एक क्षण का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

तप में कायोत्सर्ग का महत्त्व

तप में कायोत्सर्ग का महत्त्व

कायोत्सर्ग साधना तप का चरमोत्कर्ष है, अतः कायोत्सर्ग के महत्त्व को समझने के लिए तप के भेदों को जानना आवश्यक है। अनशन, उणोदरी आदि तप के बारह भेद कर्म-निर्जरा के क्रमिक विकास के द्योतक हैं। निर्जरा का आशय है कर्मों का निर्जरित होना—कर्मों का झड़ना, क्षय होना, बंधनमुक्त होना। अपने से भिन्न 'पर' से सम्बन्ध जुड़ना ही बँधना है, बंधन है। बंधन उससे होता है जिससे किसी भी प्रकार के सुख-भोग की आशा हो। जिससे सुख-भोग मिलता है, उसके प्रति राग होता है। किसी के प्रति राग होना भी उससे बँधना है। इसी प्रकार जिससे सुख-भोग में बाधा पड़ती है उसके प्रति द्वेष होता है। किसी के प्रति द्वेष होना भी उससे बँधना है। इस प्रकार राग-द्वेष—ये दो ही बंध के कारण हैं। जिनके प्रति राग या द्वेष नहीं है उनसे इस क्षण भी जीव बंधनरहित ही है। अतः राग-द्वेष से रहित होना ही बंधनमुक्त होना है। बंधनमुक्त होने की प्रक्रिया ही निर्जरा तत्त्व है।

बंधनमुक्त होने के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय है नये बंधन न बाँधना। इसे संवर कहा है। क्योंकि बंधन वहीं होता है, जहाँ राग (अटेचमेंट) है। विषय-भोग के सुखों में आसक्ति होना राग है। नये विषय-भोगों की कामना करना तथा कामनापूर्ति के सुख का भोग करना नवीन राग को जन्म देना है, यह ही नये बंधन को पैदा करना है। राग या विषय-सुखों के भोगों ही से समस्त विकार, दोष व पाप उत्पन्न होते हैं व टिकते हैं। अतः नवीन विषय-भोगों के राग की उत्पत्ति न करना, नये विकार, दोष व पाप न करना, नवीन बंधन को रोकना संवर है। पुराने बंधनों को तोड़ना, नष्ट करना, क्षय करना निर्जरा है। पुराने बंधनों को तोड़ने के लिए अंतःकरण (कार्मण या कारण शरीर) में, सत्ता में विद्यमान व उदयमान भोग-वासनाओं का क्षय करना है अर्थात् त्यागना है। त्याग के दो रूप हैं। प्रथम रूप है—नवीन वासनाओं, दोषों को उत्पन्न करने का त्याग करना, इसे संवर कहा है। इस त्याग से नवीन सम्बन्ध उत्पन्न होना अर्थात् नवीन बंध होना बंद हो जाता है। त्याग का दूसरा रूप है—उदयमान वासनाओं को, भोगेच्छाओं को

त्यागना अर्थात् जो भोग भोगते आए हैं, उनके राग, आसक्ति (Attachment) को तोड़ना, घटाना–क्षय करना, इसी को निर्जरा (तप) कहा है। तप के बारह भेद हैं :1. अनशन 2. उणोदरी 3. वृत्तिप्रत्याख्यान 4. रसपरित्याग 5. काय-क्लेश 6. प्रतिसंलीनता 7. प्रायश्चित्त 8. विनय 9. वैयावृत्य 10. स्वाध्याय 11. ध्यान और 12. व्युत्सर्ग। इन बारह भेदों में प्रथम छः भेद बाह्य तप के और अंतिम छः भेद आभ्यन्तर तप के हैं।

बाह्य तप–बाह्य तप का कार्य है–बहिर्मुख वृत्ति को रोकना अर्थात् इन्द्रियों और मन को भोगों की ओर जाने से रोकना। इस तप का प्रारम्भ अनशन से होता है। अनशन तप केवल रसनेन्द्रिय के भोग्य विषय भोजन का त्याग करना ही नहीं है, प्रत्युत पाँचों इन्द्रियों और मन के भोग–विषयों का त्याग करना भी है। अपने त्याग की निर्बलता के कारण जिन इन्द्रिय व मन के भोगों का त्याग न कर सके उनकी यथासम्भव भोग में कमी करना उणोदरी तप है। जिन विषयों का भोग किया जा रहा है उनमें अपनी वृत्तियों-प्रवृत्तियों को रोकना वृत्ति प्रत्याख्यान तप है। उन भोग्य विषयों में रस न लेना–सुखासक्ति रहित रहना–रस-परित्याग तप है। प्रकृति प्रदत्त आए हुए सर्दी, गर्मी, रोग आदि काया पर प्रकट होने वाले क्लेशों (दुःखों) को समभाव से सहन करना, उनको दूर करने–सुख भोगने का उपाय न करना–अर्थात् हीटर-कूलर आदि का प्रयोग न करना कायक्लेश तप है। बहिर्मुखी वृत्तियों की बाह्य विषयों की संलीनता से विमुख होना प्रतिसंलीनता तप है। यह प्रतिसंलीनता तप अंतर्मुखी होने के प्रवेश द्वार पर पहुँचा देता है। इसके पश्चात् अंतर्मुखी होकर अंतर्यात्रा करने पर आभ्यंतर तप प्रारम्भ होता है। इसी दृष्टि से आगे तप के भेदों का विशेष वर्णन किया जा रहा है :

अनशन (उपवास)–उपवास का अर्थ है कि समीप में वास करना अर्थात् पाँचों इन्द्रियों और मन का बहिर्मुखी होकर विषय-भोगों की ओर जाने से निज-स्वरूप की जो दूरी हो गई है उसे दूर करने के लिए इन्द्रिय, मन आदि विषयों से विमुख होना ही निज-स्वरूप के समीप पहुँचना है–निवास करना है–उपवास है। आशय यह है कि इन्द्रियों व मन की भोग प्रवृत्तियाँ व क्रियाएँ जब बाहर की ओर गति करती हैं तब निज-स्वरूप (आत्मा) से दूरी उत्पन्न करती है उन प्रवृत्तियों को रोकना, निरोध करना ही दूरी को दूर करना है अर्थात् निज-स्वरूप के निकट पहुँचने का प्रयास ही उपवास है।

उणोदरी–शरीर के निर्वाह एवं दैनिकचर्या के लिए जो प्रवृत्तियाँ करनी पड़ें, उन्हें भी स्वरूप के सामीप्य के लिए विकथा व व्यर्थ निष्प्रयोजन विषय प्रवृत्ति न करना उणोदरी तप है।

भिक्षाचरी–शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए आहार आदि लेने की जो प्रवृत्ति करनी पड़े उसे अपने सुख-भोग के लिए नहीं लेना, अपितु भोगों के संकल्परहित हो, देने वाले की प्रसन्नता के लिए लेना भिक्षाचरी है। सुख-भोग के लिए लेना संयम के कोयले (भस्म) करना है।

रसपरित्याग–शारीरिक आवश्यकतापूर्ति एवं दैनिक कार्यों के लिए खाना, पीना, चलना, फिरना, बोलना आदि जिन प्रवृत्तियों को करना पड़े, उनमें रस नहीं लेना रसपरित्याग है। विषयों की प्रवृत्तियों में रस लेना वासना है। वासना से ही संस्कार अंकित होते हैं और नवीन कर्मों का सर्जन, अर्जन, बंधन होता है। वासनारहित प्रवृत्ति से संस्कार अंकित नहीं होते अर्थात् नवीन कर्मों का सर्जन, अर्जन, बंधन का निरोध होता है एवं पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग जीर्ण (अपवर्तन-क्षीण) होते हैं।

कायक्लेश–काया के स्तर पर जो भी भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, रोग आदि परीषहजनित एवं प्रकृतिप्रदत्त कष्ट आएँ, क्लेश होवें, उन्हें समतापूर्वक सहन करना, उनकी प्रतिक्रिया न करना कायक्लेश तप है। उन कष्टों, परीषहों को मिटाने के लिए रागात्मक-द्वेषात्मक प्रतिक्रिया करना ही नवीन संस्कारों को जन्म देने तथा नये कर्मों के बंधन के हेतु हैं, अतः कष्टों को समता से सहन करना 'कायक्लेश तप' है।

प्रतिसंलीनता–यह बाह्य तप की परिसीमा का सूचक है और आभ्यन्तर तप का प्रवेश द्वार है। मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ साधक को बहिर्मुखी बनाती हैं, स्व में स्थित नहीं होने देती। क्योंकि प्रवृत्ति में रत या तल्लीन रहते साधक अंतर्मुखी नहीं हो सकता और अंतर्मुखी हुए बिना स्वभाव में स्थित नहीं हो सकता। अतः स्वानुभूति करने के लिए यह आवश्यक है कि मन, वचन और काया की वृत्तियाँ या प्रवृत्तियाँ, जो बाह्य विषयों में तल्लीन व संलीन हो रही हैं उन्हें बाह्य-विषयों से विमुख कर स्व में लीन किया जाय। इसे ही प्रतिसंलीनता या प्रत्याहार कहते हैं। प्रतिसंलीनता के चार प्रकार हैं : 1. इन्द्रिय प्रतिसंलीनता 2. कषाय प्रतिसंलीनता 3. योग प्रतिसंलीनता और 4. विविक्तशयनासन प्रतिसंलीनता। इन्द्रियों को विषयों में तल्लीन होने से रोकना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है। कषायजन्य राग-द्वेष के प्रवाह का निरोध करना कषाय प्रतिसंलीनता है। मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्तियों का निरोध करना, इनकी गुप्ति करना योग प्रतिसंलीनता है। शयन (सुषुप्ति–गहन निद्रा) में सब क्रियाओं से रहित हो जाते हैं, उसी प्रकार जाग्रत में सुषुप्तिवत् होना विविक्त शयनासन है। यह जाग्रत-सुषुप्ति अर्थात् पूर्ण शान्त अवस्था प्रतिसंलीनता का चरम रूप है। यह आभ्यन्तर

तप-साधना की भूमि है। इसके अभाव में अतंर्यात्रा अर्थात् आभ्यन्तर तप सम्भव नहीं है। आशय यह है कि 'प्रतिसंलीनता' इन्द्रिय-कषाय व योग का संवर व शील है। शील पालन से ही समाधि सम्भव है। शयनासन में पूर्ण शिथिलीकरण समाहित है। विविक्तशयनासन पूर्ण विश्राम–पूर्ण संवर है।

मन्तव्य यह है कि प्रथम तो साधक यथासम्भव प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध करे, फिर भी शारीरिक आवश्यकता व सेवा के लिए जो प्रवृत्ति करनी पड़े, पराश्रय लेना पड़े, उसे यथासम्भव कम से कम करे, नवीन प्रवृत्ति का आह्वान न करे। प्रवृत्ति करने में अपना संकल्प न रखे अर्थात् कर्तृत्व व भोक्तृत्व भाव न आने पावे, करना होने में बदल जाये। यही बाह्य तप का कार्य है। जिस क्रिया में कर्तृत्व भाव नहीं है, संकल्प नहीं है, रस नहीं लिया जाता है, जो वासना से रहित है, उस प्रवृत्ति या क्रिया का संस्कार अंकित नहीं होता है। उससे नया कर्म नहीं बँधता है। उसका संवरण–संवर हो जाता है। प्रतिसंलीनता संवर की पूर्णता है।

प्रायश्चित्त–प्रतिसंलीनता से चित्त जब शान्त हो जाता है तो उसमें अंतर्यात्रा करने की सामर्थ्य व क्षमता आ जाती है। अंतर्यात्रा करते हुए, न चाहते हुए भी स्वतः व्यर्थ चिन्तन का प्रवाह चलने लगता है, विकल्प उठने लगते हैं। उस व्यर्थ चिन्तन की धारा को द्रष्टा होकर समतापूर्वक देखने से अर्थात् उसका समर्थन तथा विरोध न कर उपेक्षा करने से, असंग होने से, उसका विशोधन होता है, विशोधन होने से आकुलता-व्याकुलता रूप शल्य मिट जाता है, विशल्य-करण हो जाता है अर्थात् पापकर्मों का घात व निवारण होता है। यह कार्य आगे व्युत्सर्ग तप तक चलता है अर्थात् पापकर्मों के विकारों के विशोधन के लिए आत्मावलोकन कर अपने दोषों को दूर करना प्रायश्चित्त है।

विनय–अहंभाव (अहंकार) रहित होना विनय है। चेतन जब अपने से भिन्न अन्य पदार्थ से तद्रूप होता है तब ही अहं या मैं का सर्जन होता है। जैसे चेतन जब धन, विद्या, शरीर, पद आदि पदार्थों से तद्रूप होता है तब मैं धनी हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं जवान हूँ , वृद्ध हूँ, असुन्दर हूँ , मैं प्रतिष्ठित हूँ आदि 'मैं' की उत्पत्ति होती है। यदि इस मैं से आरोपित पदार्थ धन, विद्या, शरीर, पद आदि पदार्थों से अपने को पृथक् कर ले तो 'मैं' का अस्तित्व मिटकर केवल 'है' सत्, ध्रौव्य रह जाता है। सत्, अविनाशी स्व का स्वरूप है, यही परम तत्त्व परमात्मा है। आशय यह है कि 'मैं' का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, 'मैं' का केवल भास होता है। अंतर्यात्रा करते हुए द्रष्टा से दृश्य पृथक् है, यह अनुभव प्रत्यक्ष होता है जिससे 'मैं' का भासमान रूप गलने व विसर्जित होने लगता है। यह अहंरहित

निज-स्वरूप का अनुभव होना ही विनय है। *प्रतिसंलीनता और प्रायश्चित्त* अहंभाव मिटाने के सहायक तप हैं।

वैयावृत्य–विनय तप से जब 'मैं' शेष नहीं रहता है तब 'है' या चेतन तत्त्व ही रह जाता है। यह चेतनत्व सब जीवों में समान है। अतः उसे सब जीव आत्मवत्, निजस्वरूप लगते हैं, फिर कोई पराया नहीं रहता है। अतः उसमें समस्त जीवों के प्रति करुणा, आत्मीयता, मैत्री व प्रमोद भाव जाग्रत होता है। मैत्री व प्रमोद भाव सर्वहितकारी प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति को ही सेवा व वैयावृत्य कहा है। सेवा व वैयावृत्य में कर्तृत्व भाव तथा भोक्तृत्व भाव (फल की इच्छा) नहीं रहने से पापकर्मों का बंध नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्य से उदयमान राग गलता है जिससे विशुद्धिकरण, विशल्यीकरण होता है एवं पापकर्मों का क्षय होता है।

विनय तप से 'मैं' का विसर्जन हो जाने से विषयेच्छा व मेरापन–ममत्व मिट जाता है। जिससे स्वार्थपरता सर्वहितकारी प्रवृत्ति में परिणत हो जाती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति दोषरहित होने से पापकर्मों का बंध नहीं होता है। सेवा भाव किसी कर्म के व कषाय के उदय से नहीं होता है, अतः जीव का स्वभाव है, विभाव नहीं है। विभाव मिटाना व स्वभाव प्रकट करना ही तप का कार्य है। अतः सेवा या वैयावृत्त्य तप है। तप से कर्मों (पाप प्रवृत्तियों एवं प्रकृतियों) की निर्जरा होती है, कर्म-बंध नहीं होता है।

स्वाध्याय–स्वाध्याय का अर्थ है स्व का अध्ययन करना। स्व का अध्ययन से अभिप्रेत है अपने स्वभाव का अध्ययन करना। यह नियम है कि जिसका अध्ययन करना है उसमें विचरण करना आवश्यक है। अतः स्वभाव का अध्ययन के लिए स्वभाव में विचरण करना होता है। स्वभाव में विचरण विभाव में विचरण के निरोध करने से ही सम्भव है। विभाव है असत्–विनाशी, परभाव। असत् चर्चा, असत् (पर) चिन्तन। असत् (पर) चाह का त्याग करने पर ही स्वभाव का, स्व का अध्ययन करना सम्भव है। अतः अंतर्यात्रा करते समय सर्वसावद्य योगों, विभावों को त्याज्य समझकर इनसे तो असंग रहना ही है, साथ ही अन्तर्यात्रा में प्रकट होने वाली दिव्य ध्वनियाँ, दिव्य ज्योतियाँ आदि परिवर्तनशील विभूतियों में रमण न करके इनसे भी असंग रहना है। कारण कि जहाँ 'पर' का, विनाशी का, असत् का अध्ययन है वहाँ स्व का अध्ययन सम्भव नहीं है। स्व का अध्ययन अपने स्वरूप में विचरण-रमण से ही सम्भव है। स्वभाव का ज्ञान ही श्रुतज्ञान है और स्वभाव का अध्ययन ही श्रुतज्ञान का अध्ययन है, स्वाध्याय है।

ध्यान–ध्यान तप में धर्म-ध्यान तथा शुक्ल ध्यान को ही स्थान है। वस्तु (पदार्थ) का स्वभाव ही धर्म है। अतः स्वाध्याय तप से, स्वभाव में विचरण या रमण करने से सत्य का साक्षात्कार होना व तत्त्व का बोध होना धर्म-ध्यान है। वीतरागता का अनुभव होना शुक्ल ध्यान का फल है।

व्युत्सर्ग–ध्यान के प्रभाव से शरीर, संसार, कषाय और कर्मबंध का विसर्जन होना, असंग होना, विमुक्त होना व्युत्सर्ग है। इसका विशेष वर्णन इसी ग्रन्थ में पहले कह आए हैं, अतः पुनरावृत्ति से बचने के लिए यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा है।

प्रश्न : कषाय प्रतिसंलीनता और व्युत्सर्ग में क्या अन्तर है?

समाधान : प्रतिसंलीनता चार प्रकार की है : इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता और विविक्तशयनासन प्रतिसंलीनता। इसी प्रकार व्युत्सर्ग भी चार प्रकार का है :– शरीर व्युत्सर्ग, कषाय-व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग और कर्म-व्युत्सर्ग। इनके अन्तर को तत्त्वार्थ सूत्र के दो सूत्रों से समझें : 'आस्रव निरोध संवरः' और 'तपसा निर्जराच' (तत्त्वार्थ सूत्र अ. 9, सूत्र 1 व 3)। इनमें 'तपसा निर्जराच' का अर्थ है तप से संवर और निर्जरा, दोनों होते हैं और संवर है आस्रव का निरोध होना। तप के दो भेद हैं– 1. बाह्य तप और 2. आभ्यंतर तप। बाह्य तप के ये सब भेद आस्रव का, नवीन कर्म-बंध के हेतुओं का निरोध करने वाले हैं अर्थात् शरीर और इन्द्रियाँ भोगों की ओर बाहर प्रवृत्ति कर रही हैं तथा राग-द्वेष की वृत्ति में तल्लीन हो रही हैं जिससे कर्मों का नया बंध हो रहा है, नये संस्कार का निर्माण हो रहा है। उस कर्म-बंध के सृजन को रोकने के लिए भोगों की ओर उन्मुख प्रवृत्तियों व वृत्तियों का निरोध करना है, इनका संवरण करना प्रतिसंलीनता है। प्रतिसंलीनता में संवर की पूर्णता है। अतः बाह्य तप मुख्यतः संवर का कार्य करते हैं। साथ ही पूर्वबद्ध सत्ता में स्थित पापों, कर्मों के स्थितिबंध का अपवर्तन एवं अनुभाग बंध का अपकर्षण भी करते हैं अर्थात् सत्ता में स्थित कर्मों के स्थितिबंध और अनुभाग बंध में भी कमी करते हैं, घटाते हैं। कर्मों की स्थिति और अनुभाग का कम होना–घटना भी कर्मों की निर्जरा है। अतः संवर से पापकर्मों का नवीन बंध रुकता है और पूर्वबद्ध कर्मों की आंशिक निर्जरा होती है, परन्तु कर्मों का उन्मूलन व क्षय नहीं होता है।

कर्मों का उन्मूलन एवं आत्यंतिक क्षय आभ्यन्तर तप से ही होता है। कारण कि बाह्य तप से तो चेतना की केवल बाहर की ओर हो रही गति का निरोध होता है, अन्तर की ओर गति नहीं होती और विषय-भोगों में विद्यमान आन्तरिक सुखासक्ति नहीं मिटती। आभ्यन्तर तप से स्व की ओर गति होती है, जिससे अलौकिक रसानुभूति का आनन्द अनुभव होता है एवं भोगों के सुख में आकुलता का दुःख अनुभव होता है जिससे भोगों की सुखासक्ति स्वतः क्षीण होती जाती है, स्व की ओर गति होती जाती है, जिसकी पूर्णता होने पर निज-स्वरूप से अभिन्नता हो जाती है। शरीर, संसार, कषाय और कर्म के आकर्षण, आसक्ति, राग का पूर्ण क्षीण व क्षय हो जाता है फिर इनका पूर्व में अंकित प्रभाव शेष नहीं रहता है, इन सब से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से इनका बंध टूट जाता है। इनसे अतीत अवस्था का अनुभव हो जाता है अर्थात् व्युत्सर्ग हो जाता है। अभिप्राय यह कि प्रतिसंलीनता बाह्य तप की चरम स्थिति व पूर्णता प्राप्त करने की द्योतक है और इससे नवीन पापकर्मों का बंध होना बंद हो जाता है और व्युत्सर्ग आभ्यन्तर तप की पूर्णता का द्योतक है जिससे सब प्रकार के बंधनों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है।

विषय-सुखों के भोग से ही समस्त दोषों (पापों) की उत्पत्ति होती है। दोषों (पापों) से दुःखों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विषय-सुखों का भोग ही समस्त दोषों, दुःखों एवं बंधनों का कारण है। बाह्य तप से विषय-भोगों की प्रवृत्ति का निरोध होता है और आभ्यन्तर तप से विषय-भोगों की वृत्ति (वासना) का क्षय (नाश) होता है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर, इन दोनों प्रकार के तपों से विषय-भोगों की प्रवृत्ति तथा वृत्ति का अंत हो जाता है। समस्त दोषों, दुःखों तथा बंधनों का सदा के लिए नाश हो जाता है। ध्यान व व्युत्सर्ग में दोनों प्रकार के तप समाहित हैं। अतः ध्यान व व्युत्सर्ग से ही समस्त दोष, दुःख एवं बंधन से मुक्ति की अनुभूति होती है। प्रतिसंलीनता मुक्ति के समीप पहुँचाती है और कायोत्सर्ग मुक्ति से अभिन्न करता है।

आशय यह कि प्रतिसंलीनता तप से विषय-भोग, शरीर, संसार व कर्म (प्रवृत्ति) से विमुखता होती है, नवीन रागोत्पत्ति का

निरोध होता है,जिससे नवीन कर्म-अर्जन व सर्जन अवरुद्ध होता है और कायोत्सर्ग से पूर्वबद्ध आसक्तियुक्त संस्कारों (कर्म-बंधनों) का क्षय होता है जिससे वीतरागता, सर्वज्ञता, पूर्ण चिन्मयता एवं सच्चिदानन्द (अक्षय, अखण्ड व अनंत सुख) का अनुभव होता है। प्रतिसंलीनता में निर्विकल्प स्थिति होती है। नवीन भोग प्रवृत्तियों का निरोध होने से चित्त शान्त होता है, सम्प्रज्ञात समाधि होती है और कायोत्सर्ग से वासनायुक्त वृत्तियों का क्षय होने से निर्विकल्प बोध होता है जिससे पूर्ण तत्त्वबोध होता है। असम्प्रज्ञात समाधि होती है, फिर कुछ भी जानना, देखना, पाना व करना शेष नहीं रहता है। यही सिद्धि प्राप्त करना है।

कायोत्सर्ग का फल

यह नियम है कि जो वस्तु जिस वस्तु से श्रेष्ठ होती है उस श्रेष्ठ वस्तु के गुणों में विशेषता होती है। जैसे धर्म-ध्यान से शुक्ल ध्यान श्रेष्ठ है, अतः धर्म-ध्यान के जो फल हैं वे ही फल शुक्ल ध्यान में विशेष रूप में पाये जाते हैं तथा अन्य विशेष गुण भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार ध्यान-तप से कायोत्सर्ग तप श्रेष्ठ व उत्कृष्ट तप है, अतः जो ध्यान-तप की उपलब्धियाँ हैं वे कायोत्सर्ग तप में विशेष व उत्कृष्ट रूप में पायी जाती है, अतः कायोत्सर्ग तप की उपलब्धियाँ (फल) बताने के लिए यहाँ ध्यान-तप की उपलब्धियाँ (फल) देवर्द्धि क्षमाश्रमण रचित ध्यान-शतक ग्रन्थ से प्रस्तुत की जा रही हैं यथा–

होंति सुहासव- संवर विणिज्जराऽमर सुहाइं विउलाइं।
झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स।।93।।

(धवला पुस्तक 13, गाथा 6)

ते य विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च।
दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं।।94।।

आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्म-सुक्केसु।
संसारकारणाइ तओ धुवं धम्मसुक्काइं।।95।।

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो तासिं।
झाणं च पहाणगं तवस्स तो मोक्खहेउयं।।96।।

अर्थात्–उत्तम धर्म-ध्यान से शुभास्रव (पुण्य कर्मों का आगमन), संवर (पापास्रव व पापकर्मों का निरोध), निर्जरा (संचित कर्मों का क्षय) तथा अमर (देव)-सुख एवं शुभानुबन्धी (पुण्यानुबन्धी) विपुल फल होते हैं।।93।।

विशेष रूप से धर्म-ध्यान के फल शुभास्रव आदि अणुतर और अमरसुख प्रारम्भ के दो शुक्ल ध्यान का भी फल है। अन्तिम दो शुक्ल ध्यान का फल मोक्ष की प्राप्ति है।।94।।

जो मिथ्यात्व आदि आस्रवद्वार संसार के कारण हैं, वे चूँकि धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान में सम्भव नहीं है। इसलिये यह ध्रुव नियम है कि ये ध्यान नियमतः संसार के कारण नहीं हैं, किन्तु संवर और निर्जरा के हेतु होने से मोक्ष

के मार्ग हैं। उनका पथ तप है और उस तप का प्रधान अंग ध्यान है। अतः ध्यान मोक्ष का हेतु है।।95-96।।

श्री जिनभद्र क्षमाश्रमण ने ध्यान शतक में गाथा 97 से 105 में शुभ ध्यान के फल को अनेक दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हुए कहा है—जिस प्रकार जल वस्त्रगत मैल को धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप मैल को धोकर उसे शुद्ध कर देने वाला है। जिस प्रकार अग्नि लोहे के कलंक (जंग आदि) को दूर कर देती है उसी प्रकार ध्यान जीव से सम्बद्ध कर्मरूप कलंक को पृथक् कर देने वाला है तथा जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी के कीचड़ को सुखा देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप कीचड़ को सुखा देने वाला है।।97-98।।

जिस प्रकार योगों (औषधियों) के द्वारा शरीर का नियम से ताप (दुःख), शोषण (दुर्बलता) और भेद (विदारण) दूर होता है उसी प्रकार उस ध्यान से ध्याता के कर्म का भी नियम से ताप, शोषण और भेद दूर होता है।।99।।

जिस प्रकार रोग को शमन कर देने वाली विशोषण (लंघन) अथवा विरेचन क्रिया से रोग के कारणभूत मल को बाहर निकाल देने से रोग शान्त हो जाता है, उसी प्रकार ध्यान और उपवास आदि के विधान (विधियाँ) से कर्मरूप रोग को शान्त कर दिया जाता है।।100।।

जिस प्रकार वायु से सहित अग्नि दीर्घकाल से संचित ईंधन को शीघ्र जला देती है उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि अपरिमित—अनेक पूर्वभवों में संचित—कर्मरूप ईंधन को क्षण-भर में भस्म कर देती है।।101।।

जिस प्रकार मेघों के समूह वायु से ताड़ित होकर क्षण-भर में विलय को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूप वायु से विघटित होकर कर्मरूपी मेघ भी विलीन हो जाते हैं—क्षण-भर में नष्ट हो जाते हैं।।102।।

जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है वह क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता है। मानसिक दुःखों के समान शारीरिक दुःखों से भी वह बाधा को प्राप्त नहीं होता है।।103।।

जिसका चित्त ध्यान के द्वारा अतिशय स्थिरता को प्राप्त कर चुका है, वह कर्मनिर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ शीत व उष्ण आदि बहुत प्रकार के शारीरिक दुःखों से भी बाधा को प्राप्त नहीं होता है, वह उन्हें निराकुलतापूर्वक सहता है।।104।।

इस प्रकार सब गुणों के आधारभूत तथा दृष्ट और अदृष्ट सुख के साधक को उस अतिशय प्रशस्त ध्यान का सदा श्रद्धान करना चाहिये, उसे जानना चाहिये और उसका चिन्तन व अनुभव करना चाहिये ।।105 ।।

स्पष्टीकरण—ध्यान के अतिप्राचीन एवं प्रामाणिक ध्यान शतक ग्रन्थ का जैन धर्म की दोनों सम्प्रदायों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ की उपर्युक्त गाथाओं से निम्नांकित तथ्य प्रकट होते हैं।

ऊपर गाथा 93-94 में श्रेष्ठध्यान—धर्म-ध्यान का प्रतिपादन करते हुए धर्म-ध्यान से 1. पुण्य का आश्रव, 2. पाप का संवर, 3. निर्जरा, 4. बंध और 5. देवसुख होना कहा है और गाथा 96 में इसे मोक्ष का हेतु भी कहा है।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि आश्रव और संवर, दोनों परस्पर में विरोधी हैं तथा निर्जरा और बन्ध, ये दोनों भी परस्पर में विरोधी हैं। इन विरोधियों का धर्म-ध्यान व शुक्ल ध्यान में एक साथ होना कहा गया है, यह कैसे सम्भव है?

समाधान—यहाँ आस्रव व बन्ध में शुभास्रव और शुभानुबन्ध को ही लिया गया है, अशुभ (पाप) आस्रव और अशुभ (पाप) अनुबन्ध को नहीं लिया गया है। इसी प्रकार संवर और निर्जरा में पाप के संवर और पापकर्मों की निर्जरा को ही लिया गया है, शुभ कर्मों के संवर व निर्जरा को नहीं लिया गया है। कारण कि धर्म-ध्यान आदि समस्त साधनाओं से आत्म-विशुद्धि होती है, आत्मा पवित्र होती है जिससे पुण्य का आस्रव तथा पुण्य का अनुबन्ध होता है। जिस समय जिस पुण्यकर्म प्रकृति का आस्रव व अनुबन्ध होता है उस समय उसकी विरोधिनी पापकर्म प्रकृति के आस्रव का निरोध—संवर हो जाता है तथा पाप प्रकृतियों की निर्जरा (क्षय) होती है। पुण्य का आस्रव चार अघाती कर्मों का ही होता है। इनमें से आयुकर्म को छोड़कर शेष वेदनीय, गोत्र व नाम, कर्म की प्रकृतियों में शुभ अथवा अशुभ दोनों प्रकार की प्रकृतियों में से किसी एक का आस्रव व बन्ध निरन्तर होता रहता है। अतः जब सातावेदनीय, उच्च गोत्र, शुभ गति, शुभ आनुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वज्रऋषभनाराच संघयण, समचतुरस्र संस्थान, शुभ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, शुभविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभ, स्थिर, सुभग, आदेय और यशकीर्ति—इन पुण्य प्रकृतियों में से जिनका आस्रव व अनुबन्ध होता है तब इनकी विरोधिनी पापकर्म प्रकृतियाँ असातावेदनीय, नीच गोत्र, अशुभ गति व आनुपूर्वी अशुभ संघयण-संस्थान, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, अशुभ विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अशुभ अस्थिर, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति के आस्रव का निरोध—संवर हो जाता है, बन्ध रुक

जाता है तथा सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपवर्तन रूप क्षय (निर्जरा) होता है। अतः समस्त साधनाओं से होने वाली आत्म-विशुद्धि से शुभास्रव–शुभानुबन्ध होता है और अशुभ (पाप) प्रकृतियों की संवर व निर्जरा होती है। साधक के लिए पाप प्रकृतियों का संवर व इनकी निर्जरा ही इष्ट है, जब आत्म-विशुद्धि से पाप प्रकृतियों का संवर व निर्जरा होती है तब पुण्य प्रकृतियों का आस्रव व अनुबन्ध स्वतः ही होता है।

पुण्यास्रव का निरोध व पुण्य कर्मों के अनुभाग के अनुबन्ध का क्षय व निर्जरा किसी भी साधक के लिए अपेक्षित नहीं है और न किसी भी साधना से सम्भव ही है। प्रत्येक साधना से पुण्यास्रव व पुण्यानुबन्ध में वृद्धि ही होती है। इसलिये पुण्य के आश्रव के निरोध को संवर में और पुण्य कर्मों के अनुभाग बन्ध के क्षय को निर्जरा में ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि पुण्यकर्म का संवर और अनुभाग की निर्जरा संयम, तप, त्याग आदि साधना से सम्भव नहीं है। यही तथ्य उपर्युक्त गाथा 95 से प्रकट होता है। गाथा 93-94 में तो कहा है कि धर्म-ध्यान-शुक्ल ध्यान से शुभास्रव होता है और इसकी अगली गाथा में यह कह दिया गया कि आश्रव द्वार संसार के कारण हैं इसलिये धर्म-ध्यान व शुक्ल ध्यान से नहीं होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आगम में आस्रव द्वार उन्हीं को कहा है जो संसार वृद्धि के हेतु हैं। शुभास्रव (पुण्यास्रव) संसार वृद्धि का हेतु नहीं है अपितु संसार क्षय का सूचक है, इसलिये इसके निरोध को संवर के किसी भी भेद में स्थान नहीं दिया है, अतः पुण्य के आस्रव तथा बन्ध को हेय व संसार का हेतु मानना आगम व कर्मसिद्धान्त के विपरीत है। साधना के क्षेत्र में केवल पाप के आश्रव के निरोध को संवर में और पापकर्मों के क्षय को ही निर्जरा में ग्रहण किया है।

कायोत्सर्ग से मुक्ति की प्राप्ति

मानव मात्र का लक्ष्य, शान्ति, मुक्ति (स्वाधीनता), प्रीति (प्रसन्नता), अमरत्व एवं दुःखरहित स्थायी-शाश्वत सुख प्राप्त करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि से सम्भव नहीं है। कारण कि इनके साथ अशान्ति, पराधीनता—पराश्रय, नीरसता, विनाश, वियोग आदि के दुःख लगे ही रहते हैं, जो किसी भी मानव को स्वभाव से ही इष्ट नहीं हैं। लक्ष्य उसे कहते हैं जिसकी पूर्ति सम्भव हो। लक्ष्य की पूर्ति में ही मानव-जीवन की सार्थकता एवं सफलता है। इसलिए लक्ष्य की पूर्ति अनिवार्य है।

मानव-जीवन का लक्ष्य स्थायी, शाश्वत सुख प्राप्त करना है। शरीर, इन्द्रिय, मन व संसार की समस्त वस्तुएँ नाशवान हैं। अतः जो स्वयं ही नाशवान हैं उनसे स्थायी—अविनाशी शाश्वत सुख की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। अतः इनसे शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। यह ही नहीं, इन भोगों के सुख में पराधीनता, शक्तिहीनता, जड़ता, असमर्थता, अभाव, नीरसता, वियोग आदि अगणित दुःख लगे हुए हैं जो किसी भी मानव को इष्ट नहीं हैं। अतः इनसे सुखप्राप्ति का त्याग करने में किसी भी प्रकार का अहित नहीं है, प्रत्युत हित ही है। अतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से मिलने वाले सुख का त्याग करना मानव का परम पुरुषार्थ है। इन सुखों का त्याग करते ही पराधीनता, शक्तिहीनता, वियोग आदि के दुःखों का भी स्वतः अंत हो जाता है जो मानव-मात्र को इष्ट हैं। अतः इन के सुखों के त्याग में ही हित है।

इन्द्रिय, शरीर, मन आदि के विषय-सुखों के त्यागते ही सभी दुःखों का भी अंत हो जाता है। सुख-दुःख से अतीत होते ही उस अलौकिक सुख, जिसे आनन्द कहते हैं, उसका अनुभव होता है। यह सुख या आनन्द पराश्रित एवं नश्वर पदार्थों पर आधारित नहीं होने से तथा स्वतः प्राप्त होने से स्वाधीन, अविनाशी व अनन्त होता है। इस प्रकार इन्द्रिय-विषय-सुख के त्यागने मात्र से ही मानव की माँग की पूर्ति हो जाती है। इसके लिए किसी प्रवृत्तिपरक सक्रिय विधेयात्मक साधना की आवश्यकता नहीं है। प्रवृत्तिपरक विधेयात्मक साधना

कोई भी हो, उसमें शक्ति का व्यय होता है जिससे शक्तिहीनता व असमर्थता आती है। अतः यह अखण्ड नहीं हो सकती, जीवन नहीं हो सकती तथा यह 'पर' के आश्रय के बिना नहीं हो सकती, अतः इससे स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती। जो जीवन नहीं है, स्वाधीन नहीं है, उससे माँग की पूर्ति होना सम्भव नहीं है। अतः लक्ष्य की पूर्ति में प्रवृत्तिपरक, क्रियात्मक, श्रम-साध्य, साधना का महत्त्व नहीं है। श्रमयुक्त साधना अहंकार को सुरक्षित रखती है। अहंकार के विद्यमान रहते मुक्ति व माँग की पूर्ति सम्भव नहीं है। अतः मुक्ति प्राप्ति में विधेयात्मक साधना की अनिवार्यता अपेक्षित नहीं है। विषय-सुखों का त्याग रूप निषेधात्मक साधना अनिवार्य है।

विषय-सुख भोगने में प्रवृत्ति, श्रम, पराश्रय, परिस्थिति, देश, काल आदि अपेक्षित हैं। अतः इसकी पूर्ति हो ही, यह आवश्यक नहीं है परन्तु विषय-सुखों के त्याग में श्रम व पराश्रय की, किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, देश, काल आदि की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है इनसे असंग होने की, इनके सुख के प्रलोभन के त्याग की। इनसे असंग होना ही कायोत्सर्ग है और कायोत्सर्ग का परिणाम मुक्ति है।

विषय-सुखों का त्याग ही ध्यान या व्युत्सर्ग की साधना है। त्याग करने में मानव मात्र समर्थ व स्वाधीन है। अतः व्युत्सर्ग करने में मानव मात्र समर्थ व स्वाधीन है। व्युत्सर्ग किसी श्रमसाध्य उपाय से, क्रिया व प्रवृत्ति से नहीं होता है। श्रम, क्रिया, प्रवृत्ति 'पर' पर आश्रित हैं अतः ये स्व से विमुख करती हैं, स्वरूप में, स्वभाव में स्थित नहीं होने देती। अतः ध्यान-साधक को समस्त प्रवृत्तिपरक, श्रमसाध्य साधनाओं के कर्तृत्व को त्यागकर जो नैसर्गिक नियम से स्वतः मानसिक चिन्तन तथा शारीरिक क्रियाएँ होती हैं उनसे भी असंग रहना है अर्थात् उनके प्रति किसी प्रकार की प्रतिक्रिया—राग-द्वेष न करके समत्व में रहना है। अल्प से अल्प शक्ति, बुद्धि, योग्यतावाला मानव भी विषय-सुखों की यथार्थता या निरर्थकता का अनुभव कर उसे त्यागने में, ध्यान व व्युत्सर्ग करने में, राग-द्वेष रहित वीतराग होने में, मुक्त होने में समर्थ एवं स्वाधीन है। अतः वीतराग ध्यान-साधना से निराश होना भयंकर भूल है, अपना सर्वस्व खोना है, घोर अहित करना है।

कायोत्सर्ग और मुक्ति

प्राणी के जन्म का मुख्य कारण भोग है। भोग है अपने से भिन्न से जुड़कर सुख लेना। प्राणी मात्र जन्म लेते ही शरीर व इन्द्रिय के विषयों का भोग प्रारम्भ

करता है। फिर जैसे-जैसे इन्द्रियों की क्षमता व प्राणशक्ति में वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे विषय-भोगों के सुखों में आसक्त होता जाता है। वह विषय-सुख एवं उनके साधन शरीर-इन्द्रिय आदि के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मानता है। वह मानता है कि देह ही जीवन है। वह देह और इन्द्रियों से मिलने वाले भोगों के सुख को स्थायी, सुन्दर व सुखद मानता है और इनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त सामग्री को सुरक्षित रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। यह स्थिति एककोशीय प्राणी से लेकर अर्थात् एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय एवं समनस्क, सभी जीवों की है। उनके जीवन का उद्देश्य विषय-सुखों का भोग ही है। भोग के साधन हैं—कान, नयन, घ्राण, रसना, स्पर्शन, मन, वचन, काया की शक्ति तथा आयुष्य व श्वासोच्छ्वास। इनके बल या शक्ति को 'प्राण' कहा है। इनमें बल नहीं रहने पर ये निष्प्राण—मृत हो जाते हैं।

जो भोगमय जीवन बिताते है उनको 'भोगी' कहा गया है। भोगी इन्द्रियों के अनुकूल—मनोज्ञ विषयों से प्राप्त सुख व उसके प्रति राग; तथा प्रतिकूल अमनोज्ञ विषयों के प्रभाव से होने वाले दुःख अर्थात् उसके प्रति द्वेष से आक्रान्त रहता है। राग-द्वेष में आबद्ध प्राणी सुख-दुःख का भोग करता ही रहता है। सुख-दुःख के भोग से उत्पन्न राग-द्वेष से नवीन संस्कारों का निर्माण—सर्जन होता रहता है। इसे ही नवीन कर्मों का बंध होना कहा है। इस प्रकार साधारण प्राणी कर्मों के व संसार के प्रवाह में बहता रहता है, भ्रमण करता रहता है।

जो मानव भोगी प्राणी के समान भौतिक—पौद्गलिक, ऐन्द्रिय सुखों में आबद्ध रहता है वह पशुतुल्य है। मानव वह है जो इन्द्रिय-सुखों की यथार्थता—अस्थायित्व, क्षणभंगुरता, अशुचित्व (सड़न-विध्वंसन-असुन्दर) तथा वियोग के दुःख का अनुभव कर इन्हें त्यागने का पुरुषार्थ करता है। विषय-सुखों के प्रति राग-द्वेष के अर्थात् कषायों के त्याग का पुरुषार्थ करने वाला ही पुरुष है, मानव है।

इन्द्रिय-विषय सुख के राग को त्यागने पर शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित संगठन, उपकरण एवं भोग्य सामग्री की दासता मिट जाती है। इन्द्रिय सुखों—विषयों की दासता मिटते ही संसार की दासता मिट जाती है, जिससे अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है। इन्द्रियों की दासता मिटने पर कषाय व करने का राग (कर्तृत्व भाव) मिट जाता है और करने का राग मिटने पर कर्म से असंगता हो जाती है अर्थात् कर्म का व्युत्सर्ग हो जाता है। व्युत्सर्ग होना दासता, पराधीनता के बंधन का मिट जाना है जिससे ईश्वरत्व का, स्वाधीनता का तथा मुक्ति का अनुभव होता है। यह अनुभव स्वाभाविक होने से इसका अंत या नाश

कभी नहीं होता है। यह सदा के लिए हो जाता है। इस अनुभव को ही सब धर्मों में निर्वाण, सिद्ध व मुक्त होना कहा है।

मानव-जीवन मुक्त होने के लिए ही मिला है—पशुवत् प्राणी के समान भोग भोगने के लिए मानव-जीवन नहीं मिला है। मानवमात्र को यह ज्ञान है कि जिस विषय-भोग के सुख को वह स्थायी, सुन्दर व सुखद समझता था, वह सुख नष्ट हो गया, अशुचि में, सड़न-गलन में, विध्वंसन में बदल गया, एवं उसके संयोग का सुख वियोग के दुःख में बदल गया। प्रत्येक विषय-सुख की यही यथार्थता है। इसका यथार्थ ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। मानव अपने इस यथार्थ ज्ञान का, श्रुतज्ञान का आदर कर विषय-सुखों को त्यागने का पुरुषार्थ कर मुक्त हो सकता है।

नवीन विषय-सुखों के त्यागने का पुरुषार्थ करना संवर—संयमशील साधना है और प्राप्त विषय-सुखों की दासता से मुक्त होने के लिए उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना, असंग (निःसंग) होना ही तप-साधना है। नवीन विषय-सुखों के त्याग (संवर) से नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है और तप से विद्यमान सत्ता में स्थित कर्मों का बंधन टूटकर उनकी निर्जरा हो जाती है। कर्मों के बंधनों का सर्वांश में नाश हो जाना ही मुक्त होना है। तप का लक्ष्य है शरीर, संसार, कषाय, कर्म का व्युत्सर्ग करना। संयम या संवर का पालन तप की भूमिका है। संवरशील संयम की भूमिका में ही तप रूप वृक्ष उत्पन्न होता व पनपता है जिसकी पूर्णता ध्यान है। ध्यान से शरीर, संसार, कषाय व कर्म से अतीत होने का सामर्थ्य आता है अर्थात् ध्यान का फल व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग होना ही मुक्त होना है।

तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन की सार्थकता व सफलता मुक्त होने में ही है। मानव-जन्म पाकर भी मुक्त नहीं होना अपना घोर अहित करना है, मानव-जीवन व्यर्थ खोना है। मुक्त होने में मानव मात्र समर्थ एवं स्वाधीन है, वह जिस क्षण चाहे, जब चाहे, जहाँ चाहे उसी क्षण, वहीं मुक्त हो सकता है। कारण कि मुक्त होने के लिए विषय-सुखों की नश्वरता, पराधीनता, दासता, वियोग, अशुचित्व, असारता का निजज्ञान-श्रुतज्ञान मानव मात्र को स्वतः प्राप्त है। गुरु और ग्रन्थ के ज्ञान की सार्थकता निजज्ञान-श्रुतज्ञान के आदर में ही निहित है। अनेक साधक अनित्य या अशरण, संसार आदि किसी एक भावना के चिन्तन से विषय-सुखों की व्यर्थता को जानकर इनके प्रति विरक्त होकर, राग का अभाव कर व्युत्सर्ग भाव से वीतराग हुए हैं। यह ही कायोत्सर्ग की चरम विधि है।

कायोत्सर्ग और चित्त-शुद्धि

जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा विरचित 'झाणज्झयणं ध्यानाध्ययन' अति प्राचीन मौलिक ध्यान ग्रन्थ है। इसमें ध्यान की परिभाषा करते हुए कहा है–

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चल तय चित्तं।
तं होज्जाभावणा अणुपेहा वा अहव चिंता।।2।।

अर्थात् जो स्थिर अध्यवसान–एकाग्रता को प्राप्त मन है, वह ध्यान है तथा जो चंचल (अस्थिर) चित्त है वह भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता है। ध्यान की यह ही परिभाषा पतञ्जलिकृत योग-शास्त्र में कही है। यथा–तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्।।2।। विभूतिपाद अर्थात् वृत्ति का एकतार चलना–एकाग्र होना ध्यान है। इसे ऐसे कहें कि चित्त की एक ही वृत्ति का प्रवाह निरन्तर चलना, बीच में किसी भी दूसरी वृत्ति का न उठना 'ध्यान' है। चित्त की वृत्ति दो प्रकार की होती है–अशुभ और शुभ। विषय-भोगों में व उनकी प्राप्ति में तल्लीन वृत्ति अशुभ है, इसे 'पातञ्जल योग' में क्लिष्ट वृत्ति कहा है। इसके विपरीत विषय-विकारों के त्याग की वृत्ति शुभ है, इसे पातञ्जल योग में अक्लिष्ट वृत्ति कहा है। अशुभ व क्लिष्ट वृत्ति की एकाग्रता को जैन दर्शन में आर्त-रौद्र ध्यान कहा है जिसका अर्थ है क्लेशकारी वृत्ति। विषय-विकारयुत इस वृत्ति को साधक के लिए त्याज्य कहा है।

शुभ व अक्लिष्ट वृत्ति है–सत् चर्चा, सत् चिन्तन, दया, करुणा, सेवा, परोपकार आदि दिव्य गुणों के प्रति चित्त की एकाग्रता। शुभ वृत्ति को त्याज्य नहीं कहा है, क्योंकि यह सत्य व स्वरूप में प्रतिष्ठित होने में सहायक होती है। विषयों व विकारों की नाशक है, अतः शुभ-अक्लिष्ट वृत्ति त्याज्य नहीं है अपितु ध्यान का 'करण' साधन है।

'चित्त' करण है, कर्ता नहीं। यह नियम है कि करण या साधन स्वयं में भला-बुरा नहीं होता है, वह कर्ता के भावों को क्रियान्वित करता है। कर्ता के शुद्ध-अशुद्ध भाव ही करण के माध्यम में प्रकट होते हैं। मन, वचन, शरीर आदि करणों की क्रियाओं की शुभता-अशुभता के आधार कर्ता के भाव होते हैं। कर्ता अपने शुद्ध-अशुद्ध भावों के अनुसार करण का सदुपयोग-दुरुपयोग करता है।

आशय यह है कि चित्त करण या साधन है जिसका सदुपयोग लक्ष्य की प्राप्ति में सबसे अधिक सहयोगी होता है।

मन, वचन, शरीर, बुद्धि आदि करण हैं। इनके सदुपयोग से मानव अपने इष्ट लक्ष्य की उपलब्धि कर सकता है। उदाहरणार्थ आँख देखने में करण का कार्य करती है। आँख से किसी स्त्री को देखने से विकार की उत्पत्ति हो, इसके लिए आँख को दोषी मानना और उसकी शक्ति को व उसे नष्ट कर देना भयंकर भूल है। क्योंकि आँख के नष्ट हो जाने या निष्क्रिय कर देने से वासना नष्ट नहीं होती है। विकार व वासना आँख नहीं पैदा करती, आत्मा स्वयं पैदा करती है। अतः अपने दोष को करण पर आरोपित करने व उसका नाश कर देने से विकार नष्ट नहीं हो जाते हैं। इसी प्रकार चित्त भी स्वयं अशुद्ध नहीं है, इसमें जो अशुद्धि दिखती है, वह कर्ता के भावों की है। कर्ता के भावों का चित्र मन के दर्पण पर दिखाई देता है। वह चित्र कुरूप है, इससे दर्पण को फोड़ देना नितान्त भूल है। कारण कि दर्पण के फोड़ देने से, जिसमें कुरूपता है, वह उसकी कुरूपता नष्ट नहीं होती है। आशय यह है कि चित्त को अशुद्ध व चंचल मानकर उसे निष्क्रिय करना साधना नहीं है।

ऊपर कह आए हैं कि चित्त करण है। करण का सबल, सशक्त होना, सक्रिय, गतिमान होना बुरा नहीं है। चित्त व्यक्ति की सबसे बड़ी शक्ति या सामर्थ्य है। वह हमें अभीष्ट रस देने–सुख पहुँचाने के लिए सदैव निरन्तर तत्पर व गतिमान रहता है, परन्तु संसार की जिस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की प्राप्ति में हम सुख मानते हैं, वह वास्तविक सुख नहीं होने से उसमें नीरसता आती है। उस नीरसता को दूर करने के लिए नवीन कामनाओं की उत्पत्ति होती है, जिनकी पूर्ति के लिए चित्त गतिमान होता है, यह ही चित्त की चंचलता है। इस चंचलता का कारण व्यक्ति की अतृप्ति है। किसी भी व्यक्ति को सांसारिक वस्तुएँ पाकर कभी भी तृप्ति होना सम्भव नहीं है, कारण कि–(1) संसार की किसी भी वस्तु, परिस्थिति में सुख-दुःख है ही नहीं। (2) स्वयं वे वस्तुएँ पर-प्रकाश्य व नाशवान हैं, उनसे हमारी एकता व अभिन्नता सम्भव ही नहीं है। (3) उनसे सदैव दूरी, भेदभाव व भिन्नता रहती है, अतः सांसारिक नश्वर, अनित्य वस्तुओं को पाकर चित्त कभी भी तृप्त व सन्तुष्ट नहीं हो सकता। चित्त की यह चंचलता, अतृप्तता, असन्तुष्टि का दुःख ही सांसारिक वस्तुओं से अतीत की ओर जाने की प्रेरणा देता है, इसी से अध्यात्म का जन्म होता है, जिसका अर्थ है जिन नश्वर-अनित्य-असत् वस्तुओं से तृप्ति नहीं होती, उनकी ओर दौड़ना बन्द करना है, उनकी दासता से मुक्त होना है, उनसे असंग होना है, राग-द्वेष रहित होना है।

प्रकारान्तर से कहें तो स्व में सन्तुष्ट होना है, आत्मतृप्त होना है। आत्मतृप्त व स्व में सन्तुष्ट निज-स्वरूप में स्थित होने पर कुछ पाना, करना व जानना शेष नहीं रहता है, फिर चित्त का कुछ भी कार्य शेष नहीं रहता है, जिससे चित्त शान्त हो जाता है, चंचलतारहित हो जाता है। चित्त चिन्मय हो जाता है। फिर जड़ता, आलस्य व अकर्मण्यता शेष नहीं रहती है। यह स्थिति ध्यान के कायोत्सर्ग में परिणत होने पर होती है। कायोत्सर्ग से साधक शरीर और संसार से परे होकर निर्वाण अवस्था की अनुभूति करता है। तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग से चेतना का शोधन होता है। चेतना के शोधन से चित्त का शोधन स्वतः हो जाता है।

कायोत्सर्ग में व्यर्थ चिन्तन और उसका निवारण

लक्ष्यविहीन चर्चा, चिन्तन, चाह, चर्या आदि समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं अर्थात् प्राप्त सामग्री, साधन, सामर्थ्य और समय का दुरुपयोग करना है, जिसका जीवन में कोई स्थान नहीं है। मानव मात्र साधक है। साधक का सर्वप्रथम कार्य लक्ष्य का निर्धारण करना है। लक्ष्य उसे नहीं कहते जिसके प्राप्त करने के पश्चात् कुछ प्राप्त करना शेष रह जाय और जिसे प्राप्त न कर सके उसे भी लक्ष्य नहीं कह सकते। जो अपरिवर्तनशील है, जिसका विनाश कभी नहीं हो सकता, वह ही लक्ष्य है। लक्ष्य सभी का एक ही होता है और वह है अविनाशित्व, ध्रुवत्व व परमानन्द को प्राप्त करना।

अविनाशी की प्राप्ति विनाशी से नहीं हो सकती। अतः विनाशी की चर्चा, चिन्तन, चाह करना, उसका आश्रय लेना व्यर्थ है। व्यर्थ चिन्तन दो प्रकार का है। एक है विनाशी सुख की प्राप्ति के लिए चिन्तन करना। इस चिन्तन में फलासक्ति (भोक्ता भाव) और करने का राग (कर्तृत्व भाव) रहता है। यह भोक्तृत्व-कर्तृत्व भाव ही समस्त बन्धनों, दोषों व दुःखों व दुष्कर्मों का कारण है। अतः साधक के लिए यह व्यर्थ चिन्तन सर्वथा त्याज्य है।

दूसरा व्यर्थ चिन्तन है—जब साधक विश्राम काल (प्रवृत्तिरहित कायोत्सर्ग अवस्था) में होता है तब न चाहने पर भी स्वतः चिन्तन उत्पन्न होता है। इसका कारण है पूर्व में, भूतकाल में किए गए व भोगे हुए का प्रभाव अथवा जो भविष्य में करना चाहते हैं उन कामनाओं का प्रभाव। जैन दर्शन व कर्म-सिद्धान्त की भाषा में कहें तो पूर्व में बँधे कर्मों का उदय है। यह उदय विस्रसा, नैसर्गिक नियम से स्वतः प्रकट होता है, नष्ट व निर्जरित होने के लिए। कर्म उदय में किसी का अहित नहीं है, अपितु हित ही है। यदि पूर्वबद्ध कर्म उदय आकर निर्जरित (नष्ट) नहीं होते तो भयंकर जड़ता आ जाती, अतः स्वतः उदय होकर नष्ट होने वाले व्यर्थ चिन्तन को बलपूर्वक व किसी सार्थक चिन्तन से दबाने से वह मिटता नहीं है, अपितु कुछ काल के लिए दब जाता है। फिर पुनः प्रकट हो जाता है। इस प्रकार साधक सार्थक चिन्तन करता रहता है और व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न होता रहता है। यह करने और होने का द्वन्द्व तभी नाश होता है जब व्यर्थ चिन्तन का नाश हो। व्यर्थ चिन्तन का नाश तभी होता है जब होने वाले चिन्तन को निकलने दिया

जाय, उसके प्रति राग-द्वेषात्मक, किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं की जाय अर्थात् उसका सहयोग व विरोध न किया जाय, तटस्थ व समतापूर्वक रहा जाय। प्रतिक्रिया करने से तादात्म्य हो जाता है; तादात्म्य बन्धन है। तादात्म्य का निरोध करना संवर है और तादात्म्य का विच्छेदन करना, बन्धन तोड़ना निर्जरा है। सर्वांश में तादात्म्य का नष्ट हो जाना निर्वाण है।

यह सभी को मान्य है कि सत् अप्राप्त नहीं है, सदैव प्राप्त है। प्राप्त सत् का संग निवृत्ति से ही सम्भव है। कारण कि प्रवृत्ति काल में मिले हुए से संग हो जाता है, वह ही असत् का संग है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का राग असत् के संग को पोषित करता है। जब तक साधक सहज निवृत्ति से होने वाले सत्संग को नहीं अपनाता तब तक प्रवृत्ति का राग नाश नहीं होता। बलपूर्वक प्रवृत्ति का निरोध निवृत्ति नहीं है अपितु प्रवृत्ति ही है। आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त में अपने-आप आने वाली सहज निवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति है और उसी निवृत्ति से सत् का संग होता है। बलपूर्वक प्रवृत्ति के निरोध से हुई निवृत्ति के काल में देहाभिमान का भान नहीं होता है, परन्तु इसमें प्रवृत्ति की रुचि (राग) का नाश नहीं होता है, रुचि केवल बदलती है जो कालान्तर में पुनः उत्पन्न हो जाती है, प्रवृत्ति के राग का अत्यन्त नाश विवेकपूर्वक निवृत्ति से ही सम्भव है। विवेकयुत निवृत्ति वास्तविक विश्राम है, संवर है। यह विश्राम देह आदि किसी विनाशी के आश्रय से नहीं होता है, अतः अविनाशी है। अविनाशी होने से जीवन है। विश्राम में जीवन है, अक्षय रस (सुख) है। इस तथ्य को अपनाने से ही करने के राग का अन्त सम्भव है।

जैसे भोजन भले ही भूख मिटाने में उपयोगी है, परन्तु भोजन से भूख मिटने पर भी भोजन की रुचि का नाश नहीं होता है। अपितु इससे भोजन की रुचि व वासना पुष्ट होती है जो भोजन को पुनः प्राप्त करने एवं नवीन प्रकार के भोजन करने की कामना उत्पन्न करती है। जो भोजन स्वाद का सुख लेने के लिए नहीं किया जाता, शरीर के हित के लिए किया जाता है, उसका प्रभाव अंकित नहीं होता, परन्तु जब तक लेशमात्र भी राग है तब तक की गई प्रवृत्ति का राग चिन्तन के रूप में उत्पन्न होता ही है। प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः आनेवाली निवृत्ति रूप विश्राम को सुरक्षित रखना ही रागरहित होने का सुगम उपाय है। इस विवेकयुत विश्राम को ही जैन दर्शन में संवर और पतंजलि के योग सूत्र में संयम कहा है। अपनी ओर से कोई प्रवृत्ति न करने पर भी पूर्व में भुक्त-अभुक्त भोगों का अंकित प्रभाव नष्ट होने के लिए व्यर्थ चिन्तन के रूप में उदय (प्रकट) होता है। साधक को उस व्यर्थ चिन्तन से न तो भयभीत होना चाहिये, न विरोध करना चाहिए और

न सहयोग करना चाहिए, अपितु उस व्यर्थ चिन्तन से असहयोग करना चाहिए। इतना ही नहीं, किसी अन्य चिन्तन से चिन्तन को दबा देना भी उसके नाश में हेतु नहीं है। यह नियम है कि जो न करने पर भी स्वतः प्रकट (उदय) होता है, उसका प्रभाव अंकित नहीं होता है और न उससे हानि व अहित होता है।

श्रमरहित होने पर विश्राम स्वतः प्राप्त होता है। वह सदा बना रहता है। उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। जो सदैव रहता है, वह अविनाशी होता है, वह जीवन है। श्रम में शक्ति का व्यय होता है। विश्राम काल में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति है जो दोषों का त्याग करने व लक्ष्य की प्राप्ति में हेतु होती है।

कायोत्सर्ग और आसन-प्राणायाम

कायोत्सर्ग व ध्यान एवं योग का मुख्य उद्देश्य दोषों व दुःखों से मुक्ति पाना है, वर्तमान में ध्यान और योग ने चिकित्सा का रूप ले लिया है। लोग ध्यान व योग के प्रति इसलिये आकृष्ट हो रहे हैं कि इनसे उनका मानसिक तनाव, हीनभाव, अशान्ति और असन्तोष कम हो जायें अथवा माइग्रेन, रक्तचाप, हृदयरोग आदि शारीरिक रोग मिट जायें। ध्यान और योग से मानसिक एवं शारीरिक रोग दूर होते हैं, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है, किन्तु ध्यान व योग का मुख्य उद्देश्य भोगासक्ति से मुक्त होना है, अतः ध्यान भोगासक्ति बढ़ाने का साधन नहीं होना चाहिए। योग का उद्देश्य ही भोगों से मुक्त होना है। जहाँ भोग है वहाँ योग नहीं। भोगजन्य कामना, वासना, ममता, अहंता को बनाये रखना और इनके परिणाम से होने वाले अभाव, तनाव, हीनभाव, चिन्ता, भय, असुरक्षा, पराधीनता, अन्तर्द्वन्द्व, अशान्ति आदि दुःखों से बचने की आशा रखना भयंकर भूल है। आसन-प्राणायाम करते समय कुछ काल के लिए भले ही वे दुःख कुछ कम हो जायें, दब जायें, परन्तु कुछ काल पश्चात् ही ये सब दुःख पीड़ित कर ही देते हैं। मन का किसी श्रम-साध्य प्रयोग से कुछ काल के लिए निष्क्रिय हो जाना योग नहीं है।

आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि के द्वारा शारीरिक और मानसिक रोगों का निवारण होता है और शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता आती है, अतः आसन, प्राणायाम आदि चिकित्सा का काम करते हैं। इस चिकित्सा के Side Effect नहीं होते हैं और धन भी कम व्यय होता है। इस दृष्टि से यह चिकित्सा पद्धति अन्य चिकित्सा पद्धतियों से श्रेष्ठ एवं आदरणीय है। शारीरिक व मानसिक रोग निवारण का कार्य चिकित्सालयों में विविध पद्धतियों से हो रहा है, परन्तु इससे वे चिकित्सालय योग केन्द्र, ध्यान केन्द्र नहीं कहे जा सकते। शारीरिक व मानसिक स्वस्थता योग नहीं है। यदि शारीरिक, मानसिक स्वस्थता की उपलब्धि को योग माना जाय तो हम सब व जितने भी स्वस्थ मनुष्य हैं, वे सभी योगी कहें जायेंगे, परन्तु उन्हें कोई योगी नहीं कहता, क्योंकि उनका लक्ष्य भोग है। उनकी प्रवृत्ति, निवृत्ति व प्रत्येक क्रिया भोग के लिए है, अतः वे भोगी हैं, योगी नहीं। योगी वह है जो भोगी नहीं है और योग वह है जिसका लक्ष्य भोगों को त्यागना है, जो

प्रवृत्ति व क्रिया अपने इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के विषयसुखों के सम्पादन के लिए की जाती है, वह भोग कही जाती है और जो प्रयास विषयसुखों के त्याग के लिए किया जाता है अर्थात् भोगों को त्यागने के लिए कृत यम, नियम, प्रत्याहार का अनुपालन योग है। योगयुक्त जीवन ही वास्तविक जीवन है। इसी में चिर शान्ति, निराकुल सुख, निर्भयता, स्वाधीनता, निश्चितता, अमरत्व आदि दिव्य विभूतियों की उलपब्धि होती है जबकि भोग के साथ अशान्ति, आकुलता, पराधीनता, चिन्ता आदि लगे रहते हैं, अतः भोग को योग मानना धोखा है, भ्रान्ति है, योग से वंचित रहना है।

ऐहिक (लौकिक) फल के लिए किया गया ध्यान आर्त ध्यान अथवा रौद्र ध्यान है, अतः इनका त्यागकर साधक को धर्म-ध्यान तथा शुक्ल ध्यान की उपासना करनी चाहिए। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान से स्वस्थता आदि लौकिक फल की प्राप्ति नहीं होती है। धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान से शारीरिक व मानसिक स्वस्थता, सामर्थ्य, बुद्धि संवर्द्धन आदि लौकिक उपलब्धियाँ आनुषंगिक फल के रूप में स्वतः प्राप्त होती हैं, जैसे गेहूँ के साथ भूसा स्वतः प्राप्त होता है, परन्तु ध्यान व कायोत्सर्ग का वास्तविक फल यह नहीं है अपितु राग, द्वेष, मोहरहित वीतराग होना व निर्वाण प्राप्त करना है।

कर्ता व भोक्ता भाव अर्थात् जो क्रिया या प्रयत्न सांसारिक फल पाने की इच्छा से की जाती है उसमें भी चित्त की एकाग्रता होती है, परन्तु वह भोग है, आर्त ध्यान है। आर्त ध्यान त्याज्य है, क्योंकि इससे समता, शान्ति, स्वाधीनता भंग होती है। कर्ता और भोक्ता भाव त्यागकर ज्ञाता-द्रष्टा होने पर साधक के अपने आन्तरिक जीवन में संवेदनाओं के रूप में जो कर्मों का उदय होता है वह सामने आता है। उससे असंग होना अर्थात् मन, वचन, काया से कुछ भी प्रवृत्ति नहीं करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग का फल देहाभिमान से रहित होना है। देहाभिमान नहीं रहने से देह से सम्बन्धित संसार और शरीर एवं इनके सम्बन्ध से उत्पन्न हुए विषय, कषाय आदि का व्युत्सर्ग हो जाता है, इनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, असंगता हो जाती है। देह से असंग होना देहातीत होना है, संसार या लोक से अंसग होना लोकातीत होना है, अलौकिक साम्राज्य में प्रवेश करना है, फिर राग, द्वेष, कामना, ममता, नीरसता का उदय नहीं रहता है—जिससे शान्ति, स्वाधीनता एवं अहंशून्यता की अनुभूति होती है। शान्ति से अक्षय सुख, स्वाधीनता से अखण्ड सुख का अनुभव होता है तथा अहंशून्य होने से स्वतः निज-स्वरूप का अनन्त रस प्रकट होता है।

बिना किसी प्रयत्न व प्रयास के स्वाभाविक, स्वतः आने-जाने वाले श्वास पर चित्त को एकाग्र करने को बौद्ध दर्शन में आनापानसति और पातंजल योग में प्राणायाम कहा है। इस में बल व प्रयासपूर्वक किए गए रेचक, पूरक व कुम्भक का स्थान नहीं है। कारण कि बल, श्रम व प्रयासपूर्वक किए गए रेचक, पूरक व कुम्भक में कर्तृत्व भाव रहता है तथा इससे हानि होने का भी भय रहता है, जैसाकि जैनाचार्य हेमचन्द्र ने योग-शास्त्र के छठे प्रकाश में कहा है–

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणास्यामने पीडा तस्यां स्याच्चित्त-विप्लवः ।।4 ।।
पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रमः।
चित्त-संक्लेश-करणान्मुक्तेः प्रत्यूह कारणम्।।5 ।।

अर्थात् प्राणायाम द्वारा पीड़ित मन स्वस्थ नहीं हो सकता; क्योंकि प्राण का अवरोध करने से शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है और शरीर में पीड़ा होने से मन में विप्लव (अस्थिरता) उत्पन्न होता है।

पूरक, कुम्भक और रेचक करने में परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम करने से मन में संक्लेश (विक्षोभ) उत्पन्न होता है। मन की संक्लेशयुत स्थिति मोक्ष में बाधक होती है। तात्पर्य यह है कि परिश्रम करने में शरीर आदि पर का आश्रय लेना पड़ता है व क्रिया करनी होती है जो क्षोभ उत्पन्न करती है। पराश्रय तथा क्षोभ रहते हुए स्वरूप में स्थित होना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त तथ्य को योगी गोरखनाथ ने भी अमनस्क योग ग्रन्थ में कहा है–

अभ्यस्तैः किमुदीर्घ कालममलै व्याधि प्रदैर्दुष्करैः।
प्राणायाम शतैरनेक करणैदुःखात्मकैर्दुर्जयैः ।।42 ।।
यस्मिन्नभ्युदिते विनश्यतिंबली वायुः तत्क्षणात्।
प्राप्त्यैत्सहजं स्वभाव निशं सेवध्वमेकं गुरुम्।।43 ।।

–अमनस्क योग उत्तरार्द्ध

अनेक व्याधियाँ उत्पन्न करने वाले, बड़ी कठिनाई से करने योग्य, दुःख रूप, दुर्जय तथा अनेक साधनों से सम्पन्न होने वाले सैकड़ों प्राणायामों का दीर्घकाल तक अभ्यास करने से क्या लाभ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं है।

जिसके उदित होने पर बलवान वायु स्वयं तत्क्षण विनष्ट हो जाती है; उसी सहज स्वभावभूत अमनस्कता (कायोत्सर्ग) साधना की प्राप्ति के लिए सदा एकमात्र गुरु की सेवा करो।

कायोत्सर्ग और शिथिलीकरण

वर्तमान में ध्यान व योग के केन्द्रों में शिथिलीकरण कराया जाता है और उस शिथिलीकरण को कुछ जैन धर्मावलम्बी कायोत्सर्ग कहते हैं, परन्तु शिथिलीकरण कायोत्सर्ग नहीं है। कारण कि यह शिथिलीकरण ध्यान-शिक्षक द्वारा मनोविज्ञान की निर्देशन पद्धति से या आत्म-सम्मोहन प्रक्रिया से कराया जाता है, यथा—शान्त होकर लेट जाओ। पैरों की पगथलियों को ढीला छोड़ दो। इसी प्रकार पैरों के फाबे, पिण्डलियों, जाँघों, पेडू, पेट, छाती, हाथों के पूँचों, हाथ, भुजा, गर्दन—गला, सिर आदि शरीर के प्रत्येक अंग को ढीला छोड़ने का निर्देश दिया जाता है तथा साधक को यह भी निर्देश दिया जाता है कि यह विचार करो कि शरीर का प्रत्येक अंग शिथिल हो रहा है। इस प्रकार शिक्षक द्वारा दिए गए निर्देशन से अथवा स्वयं के द्वारा आत्म-सम्मोहन से शरीर शिथिल होता है यह शिथिलीकरण शवासन ही है। इस आसन से मन तनावरहित होता है, इससे शान्ति का अनुभव होता है। यह अर्द्धमूर्च्छित तथा अर्द्धनिद्रित अवस्था होती है। इसमें शरीर और मन अपनी क्रिया करना बन्द कर देते हैं जिससे शरीर और मन द्वारा की गई या होने वाली क्रिया तथा माँसपेशियों के तनाव के द्वारा जो शक्ति का ह्रास व क्षय होता है, इनके रुक जाने से शक्ति का संचय होता है। यह शक्ति रोग-प्रतिरोधक प्रक्रिया को तीव्र करती है व शरीर में स्फूर्ति जाग्रत करती है। रोग प्रतिरोधक प्रक्रिया के सक्रिय व तीव्र होने से मधुमेह, हृदय-रोग, अल्सर (उदर रोग), रक्तचाप आदि रोगों की तीव्रता में कमी आती है, चित्त के शान्त होने से हारमोन्स उत्पन्न करने वाली ग्रन्थियाँ भी सन्तुलित होती हैं, जिससे स्वास्थ्य में सुधार होता है।

शिथिलीकरण से होने वाला स्वास्थ्य-सुधार, अन्य चिकित्साओं से होने वाली हानियों से बचाव तथा रोगों की वेदना की तीव्रता घटने का लाभ होता है—इस प्रकार शिथिलीकरण से रोगों का निवारण होता है। शिथिलीकरण की प्रक्रिया से किसी प्रकार की हानि नहीं होती है, जबकि इन रोगों के निवारण के लिए जो दवाइयाँ दी जाती हैं, उनसे तनाव नहीं मिटता है, जो लाभ होता है, वह टिकता नहीं है व अत्यल्प होता है क्योंकि दवा से रोग घटता है, तनाव कम होता है परन्तु रोग के कारण के नहीं मिटने से रोग का उन्मूलन नहीं होता है तथा दवाओं

में विषैले द्रव्य होने से दवाइयाँ स्वास्थ्य को हानि पहुँचाती हैं व अन्य रोगों की उत्पत्ति करती हैं। अतः शिथिलीकरण चिकित्सा पद्धति औषधीय चिकित्सा पद्धतियों से श्रेष्ठ चिकित्सा पद्धति है, यह कहा जा सकता है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण विदेशों में इस चिकित्सा पद्धति के अनेक प्रसिद्ध चिकित्सालय संचालित हैं, किन्तु शारीरिक अथवा कुछ अंशों में मानसिक रोगों के निवारण की इस शिथिलीकरण चिकित्सा पद्धति को कायोत्सर्ग मानना भूल है, धोखा है। कायोत्सर्ग आध्यात्मिक साधना का चरम-परम रूप है। आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है, जन्म-मरण से मुक्त होना है। जन्म-मरण से वही मुक्त होता है जो देह से रहित है, देहातीत है। जन्म-मरण देह का ही होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो न कभी जन्मा है और न कभी मरता है। देह से अतीत—असंग होना, देहातीत (देह से असंग—रहित) होने की साधना ही कायोत्सर्ग है।

दुःख से मुक्ति पाने या निर्वाण प्राप्ति के लिए कर्मों का क्षय करना अनिवार्य है। कर्म क्षय के लिए आवश्यक है, नवीन कर्म-बंध का निरोध और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा (क्षय) की जाय। आगमिक भाषा में नवीन कर्मों के निरोध को संवर या संयम कहा जाता है और निर्जरा की प्रक्रिया को तप कहा गया है। संवर और निर्जरा की साधना करने का वह ही अधिकारी व पात्र होता है जो सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वह ही होता है जो अपनी आत्मा को देह से भिन्न मानता है। इस भेद-विज्ञान के बिना सम्यग्दृष्टि नहीं होता है। जो अपने को देह मानता है अथवा देह को अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। अपने को देह मानना अर्थात् "मैं देह हूँ"—ऐसा देहाध्यास रखना, देहाभिमानी होना, देह में अहं तथा जीवनबुद्धि रखना ही संसार से जुड़ना है। कारण कि शरीर और संसार दोनों एक ही पुद्गल जाति के हैं। संसार से जुड़ना ही समस्त वासनाओं, कामनाओं, कषायों, मोह का कारण है। देहाभिमानी को अपनी विषय-भोगों व वासनाओं-जन्य सुख प्राप्ति के लिए संसार की अपेक्षा रहती है। उसका लक्ष्य शरीर के द्वारा संसार से विषय-सुखों का भोग करना है। उसे शरीर और संसार की भोग्य वस्तुओं के न रहने के विचार मात्र से भयंकर भय लगता है। वह शरीर और संसार के विषय-भोगों की सामग्री को सदा सुरक्षित बनाये रखने, संवर्धन करने में संलग्न रहता है। आगम में स्पष्ट कहा है कि भोगों में आबद्ध, अपने को देह मानने वाला व्यक्ति सम्यक् शील, सम्यक् तप व चारित्र का आचरण नहीं कर सकता। जबकि कायोत्सर्ग तप एवं चारित्र की सर्वोच्च अवस्था है। अतः शिथिलीकरण को चारित्र व तप की सर्वोच्च अवस्था कायोत्सर्ग मानना, समझना वैसी ही भूल है जैसे ताँबे को सोना मानना, समझना।

जैसाकि ऊपर कहा है कि आत्म-निर्देशन, आत्म-सम्मोहन द्वारा किया गया शिथिलीकरण कायोत्सर्ग नहीं है, शवासन है। आसन का ही एक प्रकार है। यह तनाव व तनावजन्य थकावट, शक्तिहीनता को दूर करने की, विश्रान्ति प्राप्त करने की एक प्रक्रिया है, जैसे कोई भी व्यक्ति चलते-चलते मांसपेशियों की शक्ति क्षीण होने से थकने पर बैठकर विश्राम लेता है। यह विश्राम लेना भी शिथिलीकरण ही है। दिनभर शारीरिक व मानसिक श्रम करने से उत्पन्न शक्तिहीनता, थकावट को दूर करने के लिए निद्रा लेता है, यह पूर्ण शिथिलीकरण है। शिथिलीकरण के बिना निद्रा सम्भव नहीं है। यदि शरीर की क्रिया बन्दकर विश्राम देने रूप शिथिलीकरण को कायोत्सर्ग कहा जाय तो निद्रा भी कायोत्सर्ग ही कही जायेगी।

जैन धर्म में कायोत्सर्ग के छह आवश्यक कहे हैं, इसमें कायोत्सर्ग पाँचवाँ आवश्यक है, प्रथम आवश्यक सामायिक है। शिथिलीकरण में सामायिक आवश्यक नहीं होता है, तब पाँचवाँ आवश्यक कायोत्सर्ग होना कैसे सम्भव है? कदापि सम्भव नहीं।

मन, वचन और काया का स्थिर-स्वस्थ-स्व में स्थित होना कायोत्सर्ग है। इसे ही समाधि कहा जाता है। जैन धर्म में समाधि या कायोत्सर्ग उत्कृष्ट साधना है, पातंजल योग दर्शन में समाधि योग की अन्तिम, चरम, परम अवस्था है। जबकि शिथिलीकरण साधना की प्रथम स्थिति से पूर्व की अवस्था है। अतः शिथिलीकरण को कायोत्सर्ग या समाधि कहना उपयुक्त नहीं है।

कायोत्सर्ग या समाधि के लिए सर्वप्रथम यम और नियम का पालन करना अनिवार्य है। यम हैं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करना जबकि शिथिलीकरण की प्रक्रिया के लिए इनकी अनिवार्यता व आवश्यकता अपेक्षित नहीं है।

यम-नियम है—विषय-सुखों को दुःख का कारण जानकर उनका त्याग कर अपने को पवित्र बनाना, परन्तु शिथिलीकरण क्रिया का उद्देश्य है शरीर और मन को स्वस्थ व सबल करना। कायोत्सर्ग व समाधि के साधक के लिए इन यम-नियमों का सर्वप्रथम पालन करना जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन एवं योग-दर्शन, इन सब में समान रूप से अनिवार्य बताया है परन्तु वर्तमान में तथाकथित ध्यान-योग-साधना केन्द्रों में इस पर पर्याप्त जोर नहीं दिया जाता है, अतः जहाँ यम-नियम के पालन पर बल दिये बिना, दोषों और विषय-भोगों के त्याग को लक्ष्य बनाये बिना किए गए आसन—शिथिलीकरण (शवासन), प्राणायाम कराये जाते

हैं। ऐसे स्थान योग-साधना केन्द्र नहीं हैं, बल्कि शारीरिक और मानसिक रोग निवारण के चिकित्सालय कहे जाने चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जिन साधकों का लक्ष्य दोषों, पापों, विषय-भोगों, परिग्रह को त्यागना, निर्वाण-कैवल्य, चिन्मय जीवन प्राप्त करना है, जो यम-नियम का, शील-सदाचार का पालन करते हैं, वे ही योग के अधिकारी होते हैं। जो शारीरिक पुष्टि, मानसिक तुष्टि व रोग निवारण के लिए आसन–शिथिलीकरण (शवासन) और प्राणायाम करते हैं, उन्हें अन्य कुछ भी कहा जाय, किन्तु वे योग नहीं हैं।

कर्तृत्व भाव से किए गए कृत्रिम आसन, प्राणायाम आदि कायोत्सर्ग, व्युत्सर्ग, समाधि में बाधक हैं क्योंकि वे प्रवृत्ति व पराश्रय पर निर्भर हैं।

आसन करने से शक्ति का व्यय होता है अतः थकान होती है। उस थकान को मिटाकर शक्ति का संचय करने के लिए शवासन का विधान है। शवासन है–जैसे शव–मुर्दा शरीर अपनी ओर से किसी प्रकार की हलचल नहीं करता है, शिथिल तथा तनावरहित होकर स्थिर पड़ा रहता है, उसी प्रकार तनावरहित होकर शरीर को पूरा ढीला छोड़ देना–किसी प्रकार की क्रिया न करना, शिथिल कर देना शवासन है। शवासन का ही रूपान्तर शिथिलीकरण है। प्रतिदिन निद्रा के आने के पूर्व शिथिलीकरण होता है। यदि शिथिलीकरण नहीं हो तो निद्रा आ ही नहीं सकती। निद्रा के पूर्व यह शिथिलीकरण सभी प्राणियों को होता है। यदि इसे कायोत्सर्ग कहा जाय तो सभी मनुष्य, पशु-पक्षी प्रतिदिन कायोत्सर्ग करते हैं।

आशय यह है कि कायोत्सर्ग में शरीर में स्वतः होने वाले स्थिरीकरण का महत्त्व है, प्रयत्न पूर्वक किए गए आसन-प्राणायाम आदि शरीर के स्थिरीकरण में बाधक हैं। यदि शरीर के शिथिलीकरण को कायोत्सर्ग माना जाय तो प्रत्येक शारीरिक क्रिया में ऊर्जा (शक्ति) का ह्रास, क्षय होता है जिससे शरीर में शक्तिहीनता आती है और शरीर अशक्त हो स्वतःशिथिल हो जाता है। प्राणी मात्र की प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त स्वतःशिथिलता में होता है। उस शिथिलता में शक्ति का संचय होता है जिससे पुनः प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी को दिन में अनेक बार शिथिलीकरण होता है। चलते-चलते व कार्य करते-करते थक जाने पर शरीर स्वतः शिथिल हो जाता है। माइण्ड मशीन से शिथिल हो जाता है। अगर शिथिलीकरण को कायोत्सर्ग माना जाय तो इन सब शिथिलीकरण अवस्थाओं को कायोत्सर्ग मानना होगा। ये सब जड़ता की अवस्थाएँ हैं अतः इनको कायोत्सर्ग नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि

शरीर को निष्क्रिय करना, शिथिल करना कायोत्सर्ग नहीं है। देह से अतीत चैतन्य-स्वरूप का अनुभव होना कायोत्सर्ग है। यह साधना की उत्कृष्ट अवस्था है।

विवाह प्रज्ञप्ति सूत्र के शतक 25, उद्देशक 7 में व्युत्सर्ग का निरूपण करते हुए कहा है—(1) गण (समुदाय) (2) शरीर (3) उपधि (साधना-समाग्री) और (4) भक्तपान (इन्द्रियों के भोग) का त्याग करना द्रव्य व्युत्सर्ग है। संसार में भ्रमण कराने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों का त्याग करना; नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—इन चार गतियों एवं ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के बन्धन करने वाले कारणों का त्याग करना भाव व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के इन भेदों में शिथिलीकरण का कोई स्थान नहीं है। तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र व तप के अराधक साधक के ही होता है (जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, उसके कायोत्सर्ग नहीं होता है)।

करोड़ों व्यक्ति प्रतिदिन अपने कार्यालय में भूमि या कुर्सी पर घण्टों तक स्थिर आसन से बैठे, मौन रहे, एकाग्र चित्त से अपना कार्य करते हैं। मधुमेह का रोगी मिठाई का त्याग करता है, श्रमिक घण्टों तक धूप की ताप आदि का कष्ट सहन करते हैं, परन्तु इससे वे व्यक्ति ध्यान व कायोत्सर्ग साधक नहीं हो जाते हैं, क्योंकि उनका स्थिर आसन से बैठना, मौन रहना व चित्त की एकाग्रता, मिठाई का त्याग, ताप सहने का उद्देश्य भोग सामग्री जुटाना व भोगों की पूर्ति करना है, शरीर, संसार के भोगों का त्याग करना व इनसे अतीत होना नहीं है, अतः उनकी शारीरिक स्थिरता, वाचिक मौन एवं मानसिक एकाग्रता का त्याग व तप, ध्यान व कायोत्सर्ग साधना में कहीं स्थान नहीं है। इसी प्रकार शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य व सुख-भोग के लिए किए गए पद्मासन, शवासन (शिथिलीकरण), रेचक-पूरक-कुम्भक प्राणायाम, आदि भी ध्यान, कायोत्सर्ग व योग साधना नहीं हैं। क्योंकि शारीरिक व मानसिक स्वस्थता व सुख-भोग के लिए तो सभी भोगी मनुष्य सदा ही प्रयत्न करते रहते हैं, इससे वे योगी नहीं हो जाते हैं। कारण कि जहाँ भोग है वहाँ योग नहीं और जहाँ वास्तविक योग है वहाँ भोग नहीं हो सकते। आशय यह है कि जिस शिथिलीकरण, आसन, प्राणायाम, एकाग्रता का उद्देश्य विषय-सुखों का त्याग करना नहीं है वे भोग के ही हेतु होते हैं, अतः भोग हैं। भोग को योग मानना भ्रान्ति है, धोखा है। विवेकपूर्वक शरीर, संसार, कर्म और कषाय का व्युत्सर्ग ही कायोत्सर्ग, योग समाधि है।

कायोत्सर्ग-सूत्र

विउसग्गसरूवं–

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ।।

–उत्त., अ. 30, गाथा 36

व्युत्सर्ग का स्वरूप–

सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु शरीर की बाह्य प्रवृत्ति नहीं करता है। उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। वह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है। भगवती सूत्र, शतक 25, उद्देशक 7 के अनुसार व्युत्सर्ग के भेद हैं :

विउसग्गस्स भेयप्पभेया–

प्र.- से किं तं विओसग्गे?

उ.- विओसग्गे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–

1. दव्वविओसग्गे, 2. भावविओसग्गे य।

प्र.- व्युत्सर्ग क्या है? उसके कितने भेद हैं?

उ.- व्युत्सर्ग के दो भेद बतलाये गये हैं, यथा–

1. द्रव्य-व्युत्सर्ग, 2. भाव-व्युत्सर्ग।

प्र.- से किं तं दव्वविओसग्गे?

उ.- दव्वविओसग्गे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–

1. गणविओसग्गे,

2. सरीरविओसग्गे,

3. उवहिविओसग्गे।

4. भत्तपाणविओसग्गे।

से त्तं दव्वविओसग्गे।

प्र.- द्रव्य व्युत्सर्ग क्या है? उसके कितने भेद हैं?

उ.- द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. गण-व्युत्सर्ग–गण एवं गण के ममत्व का त्याग।

2. शरीर-व्युत्सर्ग–देह तथा दैहिक सम्बन्धों की ममता या आसक्ति का त्याग।

3. उपधि-व्युत्सर्ग–उपधि का त्याग करना एवं साधन-सामग्रीगत ममता का, साधन-सामग्री को मोहक तथा आकर्षक बनाने हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनों का त्याग।

4. भक्त-पान-व्युत्सर्ग–आहार-पानी का तथा तद्गत आसक्ति या लोलुपता आदि का त्याग। यह द्रव्य व्युत्सर्ग का विवेचन है।

प्र.- से किं तं भावविओसग्गे?

उ.- भावविओसग्गे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–

1. कसायविओसग्गे,

2. संसारविओसग्गे,

3. कम्मविओसग्गे।

प्र.- भाव व्युत्सर्ग क्या है? उसके कितने भेद हैं?

उ.- भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं, यथा–

1. कषाय-व्युत्सर्ग,

2. संसार-व्युत्सर्ग,

3. कर्म-व्युत्सर्ग।

प्र.- से किं तं कसायविओसग्गे?

उ.- कसायविओसग्गे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–

1. कोहविओसग्गे,

2. माणविओसग्गे,

3. मायाविओसग्गे,

4. लोहविओसग्गे।

प्र.- कषाय-व्युत्सर्ग क्या है? उसके कितने भेद हैं?

उ.- कषाय-व्युत्सर्ग के चार भेद कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. क्रोध-व्युत्सर्ग–क्रोध का त्याग।

2. मान-व्युत्सर्ग–अहंकार का त्याग।

3. माया-व्युत्सर्ग–छल कपट का त्याग

4. लोभ-व्युत्सर्ग–लालच का त्याग। यह कषाय-व्युत्सर्ग का विवेचन है।

प्र.- से किं तं संसार विओसग्गे ?

उ.- संसारविओसग्गे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–

1. णेरइय संसारविओसग्गे,

2. तिरिय संसारविओसग्गे,

3. मणुय संसारविओसग्गे,

4. देव संसारविओसग्गे,

से त्तं संसारविओसग्गे।

प्र.- संसार-व्युत्सर्ग क्या है? वह कितने प्रकार का है?

उ.- संसार-व्युत्सर्ग (चार गति के बन्ध के कारणों का त्याग) चार प्रकार का बतलाया गया है। वह इस प्रकार है–

1. नैरयिक-संसारव्युत्सर्ग–नरक गति बँधने के कारणों का त्याग।

2. तिर्यक्-संसारव्युत्सर्ग–तिर्यंच गति बँधने के कारणों का त्याग।

3. मनुज-संसारव्युत्सर्ग–मनुष्य गति बँधने के कारणों का त्याग।

4. देवसंसार-व्युत्सर्ग–देव गति बँधने कारणों का त्याग।

यह संसार व्युत्सर्ग का वर्णन है।

प्र.- से किं तं कम्मविओसग्गे ?

उ.- कम्मविओसग्गे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा–

1. णाणावरणिज्जकम्मविओसग्गे,

2. दरिसणावरणिज्जकम्मविओसग्गे,

3. वेयणिज्जकम्मविओसग्गे,

4. मोहणिज्जकम्मविओसग्गे,

5. आउयकम्मविओसग्गे,

6. णामकम्मविओसग्गे,

7. गोयकम्मविओसग्गे,

8. अंतरायकम्मविओसग्गे।

से त्तं कम्मविओसग्गे,

से तं भावविओसग्गे।[1]

प्र.- कर्म-व्युत्सर्ग क्या है? वह कितने प्रकार का है?

उ.- कर्म-व्युत्सर्ग आठ प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—

1. ज्ञानावरणीय कर्ण-व्युत्सर्ग—(आत्मा के ज्ञान गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का, ज्ञान के अनादर का त्याग)

2. दर्शनावरणीय कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के दर्शन (सामान्य ज्ञान गुण) के आवरक कर्म पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग।)

3. वेदनीय कर्म-व्युत्सर्ग—(साता-असाता दुःखरूप वेदना के हेतुभूत पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग। सुख-दुःखात्मक अनुकूल-प्रतिकूल वेदन में आत्म को तद्-अभिन्न मानने का उत्सर्जन।)

4. मोहनीय कर्म-व्युत्सग—(आत्मा के स्वप्रतीति-स्वानुभूति स्वभाव रमण रूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग।)

5. आयुष्य कर्म-व्युत्सर्ग—(किसी भव में—पर्याय में रोक रखने वाले आयुष्यकर्म के पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग।)

6. नामकर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के अमूर्तत्व गुण के आवरक कर्म पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग।)

7. गोत्र-कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के अगुरुलघुत्व (न भारीपन न हलकापन) रूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग।)

8. अन्तराय-कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के शक्ति रूप गुण के आवरक (अवरोध) कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग।)

यह कर्म-व्युत्सर्ग है।

इसी प्रकार भाव-व्युत्सर्ग का विवेचन है।

---

1. उव. सु. 30

काउसग्ग फलं–

प्र.- काउस्सग्गेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उ.- काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे पसत्थज्झावणोवगाए सुहंसुहेणं विहरइ।। –उत्त., अ. 29, सूत्र 14

प्र.- भन्ते! कायोत्सर्ग (ध्यान की मुद्रा) से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ.- कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भारवाहक की भाँति स्वस्थ हृदय वाला हो जाता है और प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।

आगए कायवोसग्गे, सव्वदुक्खविमोक्खणे।
काउसग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्ख विमोक्खणं।।47।।

उत्तराध्ययन, अध्ययन 26

सर्वदुःखों से मुक्त कराने वाले कायोत्सर्ग का समय आने पर सर्वदुःखों से छुड़ाने वाला कायोत्सर्ग करे।

आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय, पाँचवीं-छठी शताब्दी) की कृति 'आवश्यक निर्युक्ति' से चयनित गाथाएँ :

अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं तेण तज्जयट्ठाए।
अब्भुट्ठिया उ तवसंजमं च कुव्वंति निग्गंथा।।

आठों प्रकार के कर्म आत्मा के लिए शत्रु के समान हैं, अतः उन पर विजय पाने के लिए निर्ग्रन्थ कटिबद्ध हैं और वे तप तथा संयम में रत हैं।

तस्स कसाया चत्तारि नायगा कम्मसत्तुसेन्नस्स।
काउसग्गमभंगं करेंति तो तज्जयट्ठाए।।

उस कर्मरूपी शत्रु-सेना के चार नायक हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। वे कायोत्सर्ग में बाधा उपस्थित करते हैं, अतः उनको जीतने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

देहमइजड्डसुद्धी सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं एगग्गो काउस्सग्गम्मि।।

कायोत्सर्ग से ये लाभ प्राप्त होते हैं—

1. देहजाड्यशुद्धि– दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता का नाश।

2. मतिजाड्यशुद्धि—जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता का नाश।

3. सुख-दुःख-तितिक्षा—सुख-दुःख को सहने की शक्ति का विकास।

4. एकाग्रचित्त से शुभध्यान करने के अवसर का लाभ।

अचिरोववन्नगाणं मुच्छिअअव्वत्तमत्तसुत्ताणं।
ओहाडिअमव्वत्तं च होइ पाएण चित्तं ति।।

नवजात, मूर्च्छित, अव्यक्त, मत्त और सुप्त—इनका चित्त प्रायः स्थगित और अव्यक्त होता है। इन अवस्थाओं में ध्यान (व कायोत्सर्ग) नहीं होता।

उस्सासं न निरुंभइ आभिग्गहिओवि किमु अ चिट्ठाउ।
सज्जमरणं निरोहे सुहुमस्सासं तु जयणाए।।

शिष्य ने पूछा— अभिभव कायोत्सर्ग करनेवाला भी सम्पूर्ण रूप से श्वास का निरोध नहीं करता है तो फिर चेष्टापूर्वक कायोत्सर्ग करनेवाला उसका निरोध क्यों करेगा? आचार्य ने कहा— श्वास के निरोध से मृत्यु हो जाती है, अतः कायोत्सर्ग में यतनापूर्वक सूक्ष्म श्वसोच्छ्वास लेना चाहिए।

वासीचंदण कप्पो जो मरणे जीविए य समसण्णे।
देहे य अपडिबद्धो काउसग्ग हवइ तस्स।।

जो मुनि वसूले (बर्छी) से काटनेवाले या चन्दन का लेप करने वाले पर समता रखता है, जीवन और मरण में समवृत्ति होता है तथा देह के प्रति अनासक्त होता है, उसी के कायोत्सर्ग होता है।

तिविहाणुवसग्गाणं दिव्वाणं माणुसाण तिरियाणं।
सम्ममहियसणाए काउसग्गो हवइ सुद्धो।।

देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों को जो समभाव से सहन करता है, उसके विशुद्ध कायोत्सर्ग होता है।

अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एव कयबुद्धी।
दुक्खपरिकिलेसकरं छिदं ममत्तं सरीराओ।।

जाबइया किर दुक्खा संसारे जे मए समणुभूया।
इत्तो दुव्विसहतरा नरएसु अणोवमा दुक्खा।।

तम्हा उ निम्ममेण मुणिणा उवलद्धसुत्तसारेणं।
काउस्सग्गो उग्गो कम्मक्खयट्ठाय कायव्वो।।

'शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है'— इस प्रकार की बुद्धि का निर्माण कर तुम दुःख और क्लेशकारी शरीर के ममत्व का छेदन करो। संसार में मैंने

जितने दुःखों का अनुभव किया है, उनसे अति भयानक और अनुपम दुःख नरक के होते हैं, यह सोचकर निर्ममत्व का साधक तथा सूत्र के रहस्य को पा लेने वाला मुनि अपने कर्मों को क्षीण करने के लिए उग्र कायोत्सर्ग करे।

जह करगओ निकितइ दारुं इंतो पुणोवि वच्चंतो।
इअ कतंति सुविहिया काउस्सग्गेण कम्माइं।।

—आवश्यक भाष्य, गाथा 237

जिस प्रकार इधर-उधर आती-जाती करवत काठ को चीर डालती है, उसी प्रकार सुविहित मुनि कायोत्सर्ग के द्वारा कर्मों को काट डालते हैं।

उपसंहार

भगवती सूत्र, शतक 25, उद्देश्क 7 के अनुसार कायोत्सर्ग–व्युत्सर्ग उसे कहा है जिस साधना का उद्देश्य समुदाय (गण), शरीर, सामग्री (उपधि) के आश्रय का त्याग एवं कषाय, संसार व कर्म का व्युत्सर्ग करना हो। व्युत्सर्ग से आशय है अपनत्व, आश्रय, सम्बन्ध, संग का त्याग करना। सामग्री, शरीर, संसार, कर्म पौद्गलिक, नश्वर हैं, विनाशी हैं, जड़ हैं, पर हैं। पर में अपनत्व होना अज्ञान व मिथ्यात्व है। पर का आश्रय लेना पराधीनता में आबद्ध होना है एवं स्वाधीनता से विमुख व वंचित होना है। पर से सम्बन्ध जोड़ना ही बन्धन है। विनाशी का संग करना अविनाशी से विमुख होना है। अज्ञान, मिथ्यात्व, पराधीनता, बन्धन, विनाशित्व किसी को भी इष्ट नहीं हैं। ये सब अनिष्टता के सूचक हैं। इन अनिष्टों से मुक्त होना ही कायोत्सर्ग का उद्देश्य व लक्ष्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति इनके व्युत्सर्ग से ही सम्भव है। यद्यपि साधक पर शरीर, संसार व सामग्री का सदुपयोग सर्वहितकारी प्रवृत्ति में करने का दायित्व है, परन्तु इनके आश्रय से अपने लक्ष्य की प्राप्ति होगी, यह मानना ही मूल भूल है। इस भूल के रहते देहाभिमान का अन्त अर्थात् कायोत्सर्ग कदापि सम्भव नहीं है, अतः इनके रहते हुए ही इनके आश्रय का त्याग करना सभी साधकों को लिए अनिवार्य है। इनके आश्रय का त्याग करना ही इनसे सम्बन्ध-विच्छेद होना, इनसे असंग होना, इनसे अतीत होना है, यह ही व्युत्सर्ग है जो कायोत्सर्ग (देहाभिमान रहित होने) से ही सम्भव है। इस दृष्टि से व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, अतः जहाँ कायोत्सर्ग है वहाँ व्युत्सर्ग है और जहाँ व्युत्सर्ग है वहाँ कायोत्सर्ग है।

कोई भी प्रवृत्ति, क्रिया शरीर (काया) आदि पर के आश्रय के बिना सम्भव नहीं है। काया का आश्रय रहते कायोत्सर्ग सम्भव नहीं है, अतः कायोत्सर्ग के लिए शरीर, वचन व मन की प्रवृत्ति व क्रिया का निरोध करना आवश्यक है जैसाकि आवश्यक सूत्र में कायोत्सर्ग के पाठ में कहा है–'ठाणेणं, मोणेणं झाणेणं अप्पाणं कोसिरामि', अर्थात् मैं शरीर से स्थिर (आसन में) रहूँगा, वचन से मौन रखूँगा एवं मन से एकाग्र रहूँगा (चिन्तन नहीं करूँगा), इस प्रकार अपनत्व (ममत्व) को विस्मृत (त्याग) करूँगा।

इस सूत्र में विशेष महत्त्व 'अप्पाणं वोसिरामि' का है, क्योंकि अपनत्व या ममत्व भी सब बन्धनों का, राग-द्वेष-मोह-कषाय आदि समस्त विकारों का कारण है, अतः अपनत्व व ममत्व का त्याग करना ही समस्त बन्धनों, विकारों, दोषों से मुक्त होना है। अपनत्व का त्याग वह ही कर सकता है जो प्राप्त शरीर, सामग्री, सामर्थ्य आदि को स्व से भिन्न 'पर' मानता है, अपनी नहीं मानता है। वह इनके आश्रय लेने को पराधीनता में आबद्ध होना मानता है और इस पराधीनता से मुक्त होना ही जिसका लक्ष्य है, वह ही सम्यग्दृष्टि है, स्व-पर भेदज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि ही साधक होता है। उसकी साधना सम्यक्चारित्र व तप है। तपों में उत्कृष्ट व्युत्सर्ग तप है। व्युत्सर्ग की सिद्धि ध्यान से होती है। ध्यान चार प्रकार के हैं। इनमें आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान अशुभ होने से सर्वथा त्याज्य हैं। धर्म-ध्यान व शुक्ल ध्यान शुभ होने से इनका ध्यान-तप में स्थान है। इनमें भी धर्म-ध्यान से शुक्ल ध्यान श्रेष्ठ है। शुक्ल ध्यान के स्थानांग सूत्र में चार लक्षण कहे हैं, यथा—

"सुक्कस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ते तं जहा अवहे असम्मोहे विवेगे विउसग्गे" (स्थानांग सूत्र अ. 4 उ. 1); अर्थात् शुक्ल ध्यान के चार लक्षण हैं—1. अव्यथा, 2. असम्मोह, 3. विवेक और 4. व्युत्सर्ग।

अव्यथा—शुक्ल ध्यान का प्रथम लक्ष्ण अव्यथा है, व्यथा का अभाव है। अर्थात् शुक्ल ध्यानी को व्यथा नहीं होती। प्राणी की समस्त व्यथाओं, वेदनाओं, दुःखों का कारण देह, वस्तु, व्यक्ति आदि पर-पदार्थों में अपनत्व भाव व तादात्म्य है। जिस प्रकार आग लोहे के साथ अपनत्व व तादात्म्य को प्राप्त करती है तो वह भी लोहे के साथ ही पीटी जाती है; इसी प्रकार प्राणी भी देह आदि के साथ ममत्व बुद्धि रखने से उन पर होने वाली प्रक्रिया से व्यथित होता है। पृथक्त्व भाव से देह आदि पर-पदार्थों से ममत्व बुद्धि हट जाती है, तादात्म्य मिट जाता है, जिससे उन पर होने वाली क्रियाएँ-घटनाएँ प्राणी को व्यथित नहीं करती हैं।

अव्यथा के स्थान पर सूत्रों में कहीं-कहीं अवस्थित शब्द आता है, जिसका अर्थ है स्थिर रहना, चलायमान न होना। यह अव्यथा का ही दूसरा रूप है, क्योंकि चलायमान होना ही क्षोभ है और क्षोभ ही व्यथा है, अतः अव्यथा और अवस्थित समान अर्थ के द्योतक हैं। चलायमान वही व्यक्ति होता है जो निमित्तों से प्रभावित होता है। निमित्तों से प्रभावित वह व्यक्ति नहीं होता है जिसने निमित्तों से पृथक्त्व स्थापित कर लिया है, अतः पृथक्त्व भाव से आत्मा में अवस्थित लक्षण की अभिव्यक्ति होती है।

असम्मोह–मोहित न होना ही असम्मोह है। यह शुक्ल ध्यान का दूसरा लक्षण है जिसका अभिप्राय है शुक्ल ध्यानी सम्मोहित नहीं होता है। मूर्च्छित होना, ममत्व करना, दूसरों के प्रभाव से प्रभावित होना, दूसरों के निर्देशों में आबद्ध हो जाना, ऋद्धि-सिद्धियों के चमत्कारों से चमत्कृत होना सम्मोह के ही रूप हैं।

मनोविज्ञान का यह नियम है कि वही व्यक्ति सम्मोहित होता है जो वस्तु, व्यक्ति आदि पर-पदार्थों को महत्त्व देता है, उन्हें मूल्य प्रदान करता है और उन्हें शक्ति-सम्पन्न मान उनसे अनुग्रह की आकांक्षा रखता है, उन्हें आत्मसात् करता है, परन्तु शुक्ल ध्यानी इन सब पदार्थों से अपने में पृथक्त्व का बोध व अनुभव कर लेता है। उसके लिए वस्तु, व्यक्ति आदि समस्त पर-पदार्थों का कोई अर्थ व मूल्य नहीं रहता है तथा साधना के फलस्वरूप प्राप्त अलौकिक लब्धियों, ऋद्धियों, सिद्धियों या चमत्कारों को भी निस्सार समझता है। इसलिये वह इन सबसे व किसी से भी सम्मोहित व प्रभावित नहीं होता है।

विवेक–मूढ़ता या जड़ता न रहकर सजगता रहना ही विवेक है। जड़ता जड़ पदार्थों में अपनत्व भाव से आती है। तन, धन आदि जड़ पदार्थों से अपनत्व भाव हटकर पृथक्त्व भाव का आविर्भाव ही विवेक है। कहा भी है–देहविविक्तं प्रेक्षते आत्मानं तथा च सर्वसंयोगान् विवेकः अर्थात् देह और सर्व-संयोगों से आत्मा को नीर-क्षीर के समान पृथक् समझना ही विवेक है। पृथक्त्व भाव से अनात्म जड़-पदार्थों में अपनत्व नहीं करता है, इससे जड़ता, मूढ़ता या प्रमाद मिट जाते हैं और सतत सजगता या विवेक बना रहता है।

व्युत्सर्ग–निःसङ्गतयादेहोपधीनां त्यागो व्युत्सर्ग : अर्थात् देह और उपधि के संग का निःसंकोच त्याग व्युत्सर्ग है। देह, धन, धाम आदि सर्व पदार्थों में अपनत्व भाव ही उनके संग या सम्बन्ध का कारण है। यह संग या सम्बन्ध ही बन्ध का कारण है। पृथक्त्व भाव से स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद होता है। सम्बन्ध-विच्छेद होना ही निःसंगता है। निःसंगता ही त्याग या व्युत्सर्ग है। वस्तु को त्याग दें परन्तु उससे सम्बन्ध न त्यागें तो वह त्याग नहीं है। वस्तु रहे, परन्तु उससे सम्बन्ध त्याग दें तो वस्तु रहने पर भी उससे निःसंगता होने से वह त्याग है, अतः देह के रहते हुए भी देह से निःसंग–पृथक्–रहना त्याग है। पृथक्त्व भाव से स्वतः उपधि के प्रति निःसंगता आती है अर्थात् शुक्ल ध्यान में त्याग या व्युत्सर्गता स्वतः स्फुटित होती है।

उपर्युक्त शुक्ल ध्यान के चार लक्षणों में व्युत्सर्ग प्रधान है; कारण कि शरीर, संसार, कर्म व कषाय का व्युत्सर्ग होने पर ही साधक सर्वव्यथाओं (व्याधियों), सम्मोह और अविवेक से मुक्त होता है।

यह सर्वविदित है कि तप से कर्मों की निर्जरा होती है। तपों में सर्वोत्कृष्ट तप कायोत्सर्ग है, अतः कायोत्सर्ग से सर्वकर्मों का क्षय हो जाता है। जिससे जीव के सर्वदुःखों का अन्त हो जाता है तथा शुद्ध, बुद्ध व मुक्त हो जाता है; जैसाकि उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्ययन में कहा है–

तवेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

तवेणं वोदाणं जणयइ।।28।।

वोदाणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

वोदाणं अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।।29।।

प्रश्न : भगवन्! तप से जीव क्या प्राप्त करता है?

उत्तर : तप से जीव व्यवदान को प्राप्त करता है।

प्रश्न : भगवन्! व्यवदान से जीव क्या प्राप्त करता है?

उत्तर : व्यवदान से जीव अक्रियता प्राप्त करता है। (अक्रियता ही कायोत्सर्ग है)। अक्रिया से युक्त होने के पश्चात् साधक सिद्ध हो जाता है, बुद्ध हो जाता है, परिनिर्वाण (परम शक्ति) को प्राप्त होता है एवं सर्वदुःखों का अन्त कर देता है।

पूर्व में 'कायोत्सर्ग का फल' प्रकरण में वर्णन कर आए हैं कि कायोत्सर्ग से परिनिर्वाण व परिकल्याण होता है। कायोत्सर्ग में कषाय का व्युत्सर्ग होने से ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक व्याधियों से मुक्ति मिलती है। शारीरिक व्युत्सर्ग से शरीर व्याधियों से पीड़ित नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि कायोत्सर्ग से आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक आदि समस्त दुःखों का निवारण होता है। यह निर्वाण प्राप्ति की सरलतम साधना है।

कन्हैयालाल लोढ़ा

कन्हैयालाल लोढ़ा का जन्म ग्राम धनोप (ज़िला भीलवाड़ा, राजस्थान) में मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी, सम्वत् 1979 को हुआ। आप हिन्दी में एम.ए. हैं तथा साहित्य, गणित, भूगोल, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, अध्यात्म आदि विषयों में आपकी विशेष रुचि है।

आपकी लघुवय से ही सत्य-धर्म के प्रति अटूट आस्था एवं दृढ़ निष्ठा रही है। आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तटस्थतापूर्वक गहन मन्थन कर, उससे प्राप्त नवनीत को 300 से अधिक लेखों के रूप में प्रस्तुत किया है। आपका चिन्तन पूर्वाग्रह से दूर एवं गुणग्राहक दृष्टि के कारण यथार्थता से परिपूर्ण होता है।

विज्ञान और मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में 'जैन धर्म-दर्शन' पुस्तक पर आपको 'स्वर्गीय प्रदीपकुमार रामपुरिया स्मृति पुरस्कार', 'दुःख-मुक्ति : सुख प्राप्ति' पुस्तक पर 'आचार्यश्री हस्ती-स्मृति-सम्मान पुरस्कार', 'सकारात्मक अहिंसा : शास्त्रीय और चारित्रिक आधार' पुस्तक पर 'गौतम गणधर पुरस्कार' तथा 'साहित्य-साधना' पर 'मुणोत फाउण्डेशन पुरस्कार' से सम्मानित किया जा चुका है।

प्रस्तुत कायोत्सर्ग कृति के अतिरिक्त आपकी निम्नलिखित प्रमुख कृतियाँ प्रकाशित हैं :

1. दुःख-मुक्ति : सुख प्राप्ति, 2. जैन धर्म : जीवन धर्म, 3. कर्म सिद्धान्त, 4. सेवा करें : सुखी रहें, 5. सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी, 6. जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी, 7. दिवाकर रश्मियाँ, 8. दिवाकर देशना, 9. दिवाकर वाणी, 10. दिवाकर पर्वचिन्तन, 11. श्री जवाहराचार्य सूक्तियाँ, 12. वक्तृत्व कला, 13. जैनागमों में वनस्पति विज्ञान, 14. जीव-अजीव तत्त्व, 15. पुण्य-पाप तत्त्व, 16. आस्रव-संवर तत्त्व, 17. निर्जरा तत्त्व, 18. सकारात्मक अहिंसा, 19. सकारात्मक अहिंसा (शास्त्रीय और चारित्रिक आधार), 20. दुःख रहित सुख, 21. जैन धर्म में ध्यान (मुद्रित हैं), 22. ध्यानशतक, 23. बन्ध तत्त्व, 24. मोक्ष तत्त्व तथा 25. पतञ्जलि योग दर्शन कृतियाँ मुद्रणाधीन हैं।

अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् के अध्यक्ष होने के साथ आप श्वेताम्बर एवं दिगम्बर, दोनों सम्प्रदायों के आगम-मर्मज्ञ जैन विद्वान् हैं। आप एक उत्कृष्ट ध्यान साधक, चिन्तक, गवेषक हैं। प्रस्तुत पुस्तक आपके जीवन, चिन्तन एवं सत्य-दृष्टि का एक प्रतिबिम्ब है।